।। णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ।।
सिद्धान्तमहोदधि पू. आ. श्री विजय प्रेमसूरीश्वरगुरुभ्यो नमः।

अमृत दृष्टि

प.पू. न्याय विशारद आचार्यदेव श्रीमद्विजय
भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा

वीर संवत
२५४५

प्रकाशक
दिव्यदर्शन ट्रस्ट

विक्रम संवत
२०७५

₹ - १००/-

नकल
१०००

प्राप्तिस्थान

दिव्यदर्शन ट्रस्ट
कुमारपाळभाई वी. शाह
39, कलिकुंड सोसायटी, जि. अहमदाबाद - 387810
O : 02714 - 225482
www.jainonline.org

कर्णावती ब्रश
रूपेशभाई वोरा
82, फतेहपुरा गाँव, उमंग
म्युनिसिपत स्कूल के सामने,
पालडी, अहमदाबाद - 380 007
M : 95861 23446

उर्मिलभाई शाह
D/2/3, नूतनजीवन को.हा.सो.,
कृपानगर, ईर्ला, विले पार्ला (वेस्ट),
मुंबई - 56.
M : 9820527710

अनुवाद
विद्याधर मोदी

कम्पोझ
निखिल पटेल
(99785 45000)

प्रिन्टिंग
पारस प्रिन्टर्स
(98690 08907)

प्रकाशकीय

जो फरिश्ते कर सकते हैं, कर सकता है इन्सान भी,
जो फरिश्तों से भी न हो, वह कर सकता इन्सान भी।

फरिश्तों को जो धर्म के साधन दुर्लभ हैं, वे मनुष्यों को सुलभ हैं। इसीलिए मानव-जीवन मूल्यवान है, महत्त्वपूर्ण है। मानव-जीवन तो धर्म साधना करने के लिए श्रेष्ठ पुरुषार्थ काल है। जीवन एक अपूर्व अवसर है। **जीवन एक पुस्तक है। अब, पसन्द हमें करना है कि उसमें क्या लिखें? दुर्गति या सद्गति? युद्ध करें या शान्ति-स्थापना करें? लड़ाई-झगड़ा करें या मैत्री के गीत लिखें? काँटे बोएँ या कमल खिलाएँ? गालियाँ बकें या प्रभु के गुण गाएँ? जीवन को बनाएँ या बिगाड़ें? जीवन को उद्यान बनाएँ या रेगिस्तान जैसा बनाएँ? यह पसन्द करना हम पर निर्भर करता है।** मानव-जीवन आत्म कल्याण तथा धर्म साधना का सु-अवसर लेकर आता है। यदि हम मानवता को महकाएँगे, पवित्रता को प्रसारित करेंगे और परोपकार के प्रयास करेंगे तो जीवन सार्थक हो जाएगा।

हम, जन्म तो बारंबार लेते हैं। आज तक अनेकों बार ले चुके हैं। मगर जीवन नहीं जीते हैं, इसीलिए अनंत बार मर चुके हैं। सार्थकता जन्म लेने से नहीं, जीवन से होती है। क्योंकि अनेकों जन्म लेते है, मगर जन्म लेकर बहुत कम लोग जीते हैं। जिए बिना मर जानेवाले ही अधिक संख्या में हैं। **जन्म लेने से मृत्यु भी बारंबार आती रहती है। मगर जीवन जीने से मृत्यु भी मृत हो जाती है। अब हमें, मौत को मारकर ही मरना है, क्योंकि तब हमें फिर से जन्म नहीं लेना पड़ेगा।** जन्मों को बढ़ाने के लिए मानव-जीवन नहीं है। जड़ को सुधारने के लिए जीवन नहीं है, वह तो जीव को सुधारने के लिए है। हमारे जीवन का जीर्णोद्धार हो, उसे नवजीवन मिले, जीवन जंगल नहीं, मंगलकारी बने, पेट भरकर पूरा न हो, परन्तु परोपकार, सम्यक् कार्यों तथा प्रभु भक्ति से वह सुन्दर बने; ऐसा लक्ष्य होना चाहिए।

गुणों से वह सार्थक बनता है। जीवन में एक बड़े गुण के आने से बड़ा नहीं बना जाता, नन्हे-नन्हे गुणों के समूहों को बढ़ाते रहने से बड़ा, महान या महात्मा बना जाता है। पुष्पों से उद्यान दमकता है, गुणों से जीवन। अलंकारों और आभूषणों से तो देह दमकती है, — गुणों से आत्मा।

जो कथा इस पुस्तक में लिखी गई है, वह मात्र कहानी ही नहीं है, वह धर्म साधना एवं मानव-जीवन को गुणों से दमकानेवाली आधिकारिक सर्वकुंजी-''मास्टर की'' है। कथा पढ़ने के लिए तो है ही; मगर इस कथा का पठन, गुणों के विकास की सरगम बन जाए, जीवन की धून बन जाए; यह अपेक्षित है।

''अमृत दृष्टि'' जीवन विकास के लिए प्रेरक ही नहीं, प्रभावशाली भी है, क्योंकि समर्थ प्रवचनकार वर्धमानतपोनिधि पूज्यपाद आचार्यश्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज की करुणासिक्त कलम से यह लिखी गई है। पूज्यश्री का कथा लेखन का उद्देश्य कुतूहल जगाना तो निःसन्देह ही नहीं है। बोधकथा यदि ऐसा करती है तो वह बोधकथा नहीं रह जाती है। पाठकों को मुक्त विचरण की अनुज्ञा वे नहीं देते। हममें धर्म साधना की प्रवीणता बढ़े और प्रगति विकसित हो, इसके लिए पूज्यश्री का यह प्रेरक प्रयास है। रसयम शैली, भाववाही भाषा, गुण विकास की दृष्टि के साथ शब्दों का अनुगुम्फन हुआ है।

कथा के स्वाध्याय एवं पठन-पाठन से हमारे हर एक के जीवन में सरलता, सौजन्यता, सौम्यता, क्षमता, सहनशीलता, स्वार्थ त्याग, सहृदयता, दया, परोपकार, क्षमा आदि गुणों का विकाय यदि होगा, तभी मानव-जीवन का मनुष्य में से महात्मा बनने का कर्तव्य सफल होगा।

प्रभावपूर्ण शैली, भावप्रवण भाषा, वैराग्य बोधक बोधकथा का आलेखन करके पूज्य आचार्यश्री ने मानव समाज को एक जीवन विकास की तेजोमय रेखा की ओर इंगित करके ध्यान खींचा है।

जैसे, मार्ग सूचक संकेतों को पकड़ने से मंज़िल नहीं मिलती, उसी प्रकार से, कथा या पुस्तक को पढ़ने से जीवन नहीं सँवरता। गन्तव्य मिलता है गुण विकास की साधना से, यह गुण-विकास की साधना आरम्भ हो जाए, तो पूज्यश्री का कथा लेखन का श्रम और समय वन्दनीय बन जाएगा।

साहित्य में आज, इस प्रकार की रचनाओं का महत्त्व बढ़ गया है। समय का अभाव हो गया है। स्वाध्याय का स्वभाव भी घटता जा रहा है। मगर इस कृति को पढ़ना, समय का सबसे बड़ा सदुपयोग बन जाएगा। यदि आपके पास समय कम हो तो यह कथा आपकी क्षमा कर देगी, मगर यदि आपके पास फुर्सत नहीं हो, स्वाध्याय का भाव नहीं हो, तो कथा में समाई विराट करुणा, मानवता एवं परोपकारिता का स्वरूप भी प्रकट नहीं होगा।

आप जैसे सुज्ञ पाठकों का अभिनन्दन मैं शब्दों द्वारा कर सकूँगा, ऐसी भ्रामक धारणा मैं नहीं रखता। पुस्तक पढ़ने के बाद हमारी शुभ दृष्टि का विस्तार सर्वत्र होता रहे, मात्र यही शुभेच्छा है !

— कुमारपाल वि. शाह के प्रणाम !

युग परिवर्तक

सदियों में कभी-कभार ही ऐसे कोई पुरुष अवतरित होते हैं, जिनकी सिद्धि के मधुर परिणाम सदियों तक लोगों को याद रहेंगे।

परम पूज्य वर्धमान तपोनिधि, न्याय विशारद, आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा !

जैनधर्म जब १९वीं सदी से २० सदी में आगे बढ़ रहा था, तब इन युगपुरुष ने युग परिवर्तन का शंखनाद कर एक नयी क्रांति लायी । २०वीं सदी के फास्ट ट्रेक पर दौड़ती-भागती दुनिया को एक क्षण के लिए स्थगित कर दे, ऐसा एक महा सिंहनाद किया ।

इनका संसारी नाम कांति था । इंग्लेन्ड में G.D.A. (C.A. समान ही) डिग्री फर्स्ट क्लास पास करने के बाद इन्होंने २२ वर्ष की उम्र में सगे भाई पोपट के साथ जैनदीक्षा स्वीकार की ।

जैनधर्म की कठिन और कठोरतम साधना का पालन करने के साथ-साथ सघन शास्त्राभ्यास किया । जैनागमों के साथ-साथ अन्यधर्मों का तलस्पर्शी अवगाहन भी किया । अभ्यास हेतु ज्यादा से ज्यादा समय मिले इसलिए ये महापुरुष छट्ठ के पारणे छट्ठ (यानि हर तीसरे दिन मात्र एक बार भोजन) करते थे !

अपने गुरुदेव पू. श्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराज के मंगल आशीर्वाद लेकर, **वि.सं. २००५** में मुंबई पधारें । इनके प्रवचनों ने युवकों पर जादुई असर किया। मोह-माया की नगरी के भोग-विलासी श्रीमंतों के घर के लोगों को इनका एक प्रवचन वैराग्य में डूबों देता । जिस समय दीक्षा होना दुष्कर गिना जाता था, उस २०वीं सदी के पहले ही दशक में इन युगपुरुष ने परिवर्तन का महायज्ञ प्रारंभ कर दिया । मात्र पाँच वर्ष में ३५ युवक इनके शिष्य बनें, और जब इन महान युगपुरुष ने देहत्याग किया, तब २५० से ज्यादा सुयोग्य शिष्य के गुरुपद पर बिराजमान थे !

अपने प्रवचन से इन्होंने सदा ही श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध किया । **वि.सं. २००८** दिव्यदर्शन साप्ताहिक पत्र शुरू करके वाचकों के हृदय तक जैन तत्त्वज्ञान सरलतापूर्वक पहुँचाने का भगीरथ कार्य किया । यह साप्ताहिक पत्र ४२ वर्षों तक चला। जिसका समग्र संकलन 'भुवनभानु एन्साइक्लोपीडिया' के नूतन संस्करण में संमिलित किया गया है ।

वि.सं. २०११ वर्ष के दरमियान जब पूना में थे, तब मोरारजी देसाई की सरकार में बालदीक्षा के विरोध में प्रस्ताव चालु हुआ, तब तत्काल ही मोरारजी देसाई से मिलकर जैनदीक्षा का स्वरूप और उपयोगिता समझाकर मोरारजी को भी बालदीक्षा के समर्थक बना दिये ! अपनी तार्किकता, विद्वत्ता और पुण्य का प्रताप दिखाया । बालदीक्षा करनी चाहिये या नहीं ? यह फैंसला जब जनमत पे सौंपा गया, तब इस युगपुरुष ने अपनी असरकारक जबान और वेधक लेखनी के माध्यम से बालदीक्षा के समर्थन में जबरदस्त माहौल खड़ा किया। उसका परिणाम? बालदीक्षा के विरोध में ५०,००० मत भी नहीं थे, जबकि समर्थन में ३,००,००० से भी ज्यादा मत थे।

संयमित जीवन, जिनाज्ञा को समर्पित वर्तन, अनेकों को संयम देने के साथ-साथ उन शिष्यों का ध्यान रखना, प्रवचन, लेखन, चिंतन, वगैरह अनेक कार्यों की व्यस्तता के बावजूद भी जन-समाज को इन युगपुरुष ने कभी नजरअंदाज नहीं किया। आज-कल के युवकों को धर्माभिमुख बनकर संतोषी और सुखी जीवने कैसे जी सके? इसके लिए उन्होंने एक मौलिक प्रयोग भी किया। जिसका नाम है : शिबिर। आज जो युवक धर्म के प्रति श्रद्धालु और संसार के प्रति संतोषी-सुखी दिखता है, उसमें शिबिर का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

१९वीं शताब्दी के आखरी दशक में दीक्षा स्वीकार कर इस युगपुरुष ने २०वीं सदी के प्रथम दशक में जो परिवर्तन की क्रांति सृजन किया उसका वर्णन शब्दों में करना तो अन्याय ही होगा !

उनके पुरुषार्थ को देखकर ऐसा कह सकते है : उन्होंने एक जीवन में अनेक जिंदगी जी ली थी !

उनकी सिद्धि को देखकर ऐसा कह सकते है : वे 'जेक ओफ ओल' नहीं, पर 'मास्टर ओफ ओल' थे ।

अनुक्रमणिका

1.	अमीचन्द का परिचय	1
2.	अमीचन्द का प्रण	7
3.	ताश का विष	12
4.	स्त्री चरित्र	17
5.	वासना और प्रतिकार	22
6.	अलगाव की माँग	33
7.	शुभ भाव कैसे बने रहें?	44
8.	सबकी जड़ है जहरीली दृष्टि	50
9.	अमीचन्द का पतन	56
10.	बेकदर संसार	62
11.	किसलिए है जीवन?	67
12.	अमीचन्द का अपमान	76
13.	लक्ष्मीदेवी का यथार्थ स्वप्न	90
14.	अमीचन्द क़ैद में	102
15.	रानी और राजा का बदलाव	116
16.	राजा की भव्य तत्त्ववाणी	127
17.	अमीचन्द का उत्थान	135
18.	विनयचन्द्र का पतन	145
19.	छोटे भाई का उद्धार	155
20.	अमीचन्द का भव्य उपदेश	167

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥
सिद्धान्तमहोदधि पू. आ. श्री विजय प्रेमसूरीश्वरगुरुभ्यो नमः ।

1. अमीचन्द का परिचय

जीवन जहर भरा क्यों ?

तत्त्वज्ञानी महापुरुष जिस मानव जीवन को रत्न चिन्तामणि की उपमा देकर महा दुर्लभ एवं महद् अनमोल कहते हैं, उस जीवन को पाकर आत्माओं को गहन आनन्द हो तथा उसे सफल बनाने के लिए उनके तन-मन झंकृत् हो रहे हों, यह स्वाभाविक ही है । परन्तु इस प्रकार से असीम आनन्द के स्थान पर यह सुनने को मिलता है कि अनेकों मनुष्यों के जीवन विषाक्त बन गए हैं । ऐसा होने का कारण क्या है ? वैसे तो इसकी पृष्ठभूमि में अनेकों कारण काम करते होते हैं, जैसे -

कोई कहता है: 'मेरी तो सारी पूँजी ही साफ हो गई, ऊपर से हज़ारों की देनदारी हो गई है । अब माँगनेवाले तंग कर रहे हैं, क्या करूँ ? जीवन ज़हरीला बन गया है ।'

दूसरा कहता है: 'पैसा खूब है, व्यवसाय भी अच्छा है, पर क्या करूँ ? पत्नी ऐसी कर्कशा मिली है कि न उसे छोड़ते बनता है, न शान्ति से रहते बनता है । भयंकर क्लेश करती है ! हम नम्रता से रहते हैं, तब भी, वह तो आक्रोश और रोब दिखाती है । उसने तो मेरा जीवन ज़हरीला बना दिया है ।'

तीसरा बोल उठता है: 'इस रोग से तो मैं त्रस्त हो गया हूँ ! कितनी ही दवाएँ कीं, पैसे खर्चे, मगर दर्द मिटता ही नहीं है और सहन भी नहीं होता है । कहीं भी चैन नहीं पड़ता है... बाप रे ! क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? मेरे जीवन में ज़हर घुल गया है ।'

किसी को कोई घरभेदी मुनीम या पड़ौसी या भाई ऐसा कष्ट देनेवाला मिला है, तो दूसरे को बाल - विधवा पुत्री के कुलक्षण, तो तीसरे को किसी दाँव - पेंच ने फँसा लिया है, इस प्रकार से कोई - न - कोई दुखदायी घटना बनी हुई ही है, जिससे जीवन ज़हरीला लगता है । यह कैसी करुण अवस्था है ? अतिउच्च मानवभव और वह भी विषभरा !

मगर यह तो सच्चाई हुई ! पर सोचना तो यह है कि इन परिस्थितियों में भी क्या कोई ऐसा उपाय है कि जीवन अमृत भरा, अमृत झरता, सुधा-कुंड जैसा बन जाए ?

हाँ, उपाय है, अनेकों उपाय हैं, मगर एक अचूक उपाय है अमृत-दृष्टि, शीतल दृष्टि रखना । वह इतनी प्रभावपूर्ण है कि उससे जीवन तनिक-सा भी विषाक्त नहीं बनता है और न विषाक्त होने का अनुभव होता है । अमृत-दृष्टि एक अलौकिक जड़ी-बूटी है ! अद्भुत मंत्र है ! दिव्यातिदिव्य शक्ति है ! यह अमृत-दृष्टि क्या है ? और उसका प्रभाव कितना महान् है ? इसे हम श्रेष्ठि पुत्र अमीचन्द के दृष्टान्त से

देखेंगे । इसमें अनेकों प्रकार के अमृतों पर विस्तार से विचार किया जाएगा ।

कौन हैं अमीचन्द ? विशालपुर नगर के निवासी एक सेठ के पुत्र थे वे । विवाह होते ही उनके पिता गुज़र गए थे । मगर अमीचन्द चतुर थे, सद्गुणी और होशियार भी, इसलिए घर और दुकान का कार्य-भार उन्होंने इस प्रकार से सँभाल लिया कि उनकी माता को पति-वियोग होते हुए भी उचित आश्वासन मिला । पति की मृत्यु के समय उनका एक दूसरा, आठ वर्ष का छोटा बालक भी था । मगर बड़े पुत्र अमीचन्द ने उसे अपने पिता से भी सवाए प्रेम से सँभाला । उनकी पत्नी ने भी उसकी अमीचन्द से भी अधिक देख-भाल की, इससे माँ के दिल को दिलासा मिला ।

माँ-बाप के प्रति कृतज्ञता :

पुत्र और पुत्र-वधुएँ तो अनेकों घरों में होती हैं, मगर यदि वे 'दिन उठानेवाले' मिले हों तो गर्भावस्था से लेकर आज तक बड़ा करने का उपकार करनेवाले माता-पिता को, उससे क्या राहत मिलेगी ? राहत-सुविधा तो दूर, उल्टे दुःखी और त्रस्त होने के अनेकों अवसर आएँगे ! अपने या किसी और के पुत्र पर दृष्टि डालने से पहले स्वयं पर नज़रें डालें कि अपने माता-पिता के लिए हम कैसे बेटे बने हैं ? दिन उठाए ऐसे नहीं, पर जो दिन बनाए, उसे पुत्र समझें ।

प्रश्न: दिन बनाए का क्या अर्थ होता है ?

उत्तर: कहते हैं न कि ऐसे ग्राहक के साथ सिर फोड़ने से दिन बननेवाला नहीं है, अर्थात् दिन सफल नहीं होगा । दिन बनाना याने दिन सफल करना । तो माता-पिता का दिन सफल बनाने के लिए उन्हें सुख-शान्ति ही देनी पड़ेगी, उनका हितैषी ही बनना होगा । यदि उन्हें दुःख, क्लेश कष्ट में सड़ा दोगे, उनका अहित करोगे, तो उनका "दिन उठा दिया" कहलाएगा । जो अपने माँ-बाप का अहित करता है, वह दूसरों का भला कैसे करेगा ? वह तो दूसरों का भी दिन उठा देगा । यह तो 'दो - दूनी-चार' जैसी सीधीसी बात है । माँ-बाप का उपकार और

माँ-बाप के द्वारा दी गयी सेवा अपरंपार है । उस उपकार की कृतज्ञता तो जीवन भर रहनी चाहिए । पर उसे भी भूलकर, जो माँ-बाप का बुरा करने जाएगा, वह क्या औरों को छोड़ेगा ? उपकारी का द्रोह करने तक पहुँचा, अहित करने पहुँचा, कृतघ्न बना, अर्थात् अन्दर की वृत्ति ही अधम, मलिन और कठोर बन गई है - यही कहा जाएगा । अब इस प्रकार की वृत्ति के दिलवाला और क्या अच्छा करेगा ?

द्रोह को तजो : जहाँ द्रोह वहाँ धर्म नहीं :

द्रोह वैसे भी अधम दोष है और माँ-बाप या गुरु जैसे महा उपकारी के प्रति बुरा सोचना, दुष्ट इरादा करना तो अधम से भी अधम गिना जाएगा । द्रोही को धर्म में नहीं गिना जा सकता क्योंकि धर्मी बनने के लिए नींव में निष्कपट दिल होना चाहिए, जो द्रोही के पास नहीं होता । इसलिए ऐसे व्यक्ति यदि धर्म के क्षेत्र में घुस जाते हैं तो वहाँ भी अवसर पाकर साधर्मिक एवं गुरु की भद्रकता तथा निःस्वार्थ वात्सल्य का लाभ लेकर उनके प्रति भी द्रोह करने में संकोच नहीं करते । इसके अलावा भी वे कई अन्य नाटक करते हैं । उन्हें उचित मार्ग नहीं सूझता । वह तो तभी सूझता है जब अधमाधम दोषरूप द्रोह करने के बदले में उन्हें पश्चाताप हो, रक्त के आँसू बहे । ऐसा करने पर अन्तर की वृत्ति धर्म के अंकुरित होने योग्य पावन हो जाती है ।

धर्म को हृदय में वास्तव में सरसाने के लिए - स्पर्शना कराने के लिए, इच्छुक आत्मा को ध्यान रखना चाहिए कि कहीं और कभी भी किसी उपकारी का द्रोह न हो जाए, उपकारी के प्रति कृतघ्नता न हो जाए । सम्भव है, स्वभाव-दोष से उपकारी कदाचित् कर्कश, कड़े वचन बोल दे... तब भी शान्तिपूर्वक सहन कर ले, मगर दिल को द्रोह-बुद्धि के द्वारा तनिक-सा भी म्लान न करे । यह, यह सोचकर हो सकता है कि -

कृतज्ञता का भाव :

उन्होंने जो उपकार किए हैं, वे अपरंपार हैं । उनके सामने

उनका जो स्वभाव का दोष है वह कुछ भी नहीं है - मूल्यहीन है । इस दुनिया में कम तनख्वाह देनेवाले मालिक के भी कटु वचन सहने पड़ते हैं, तो मालिक से भी असंख्य गुना उपकारी माता-पिता के तीखे वचन ही नहीं, उनकी तो लातें भी सह लेनी चाहिए । उनके किए उपकारों के सामने इनका कोई वजूद नहीं है । कौन - कौन - से अवसरों में से गुजरकर, मुझे कैसी स्थितियों में से उभारकर, वे मुझे आज कैसी भव्य स्थिति में ले आए हैं ! इसे मैं कैसे भूल जाऊँ ? मैं कैसे अपनी तुच्छ सुविधाओं और स्वार्थ के लिए उनके उतारे न जा सकनेवाले उपकारों को भूलकर द्रोह करुँ ? बाघ-भालू के बच्चे भी अपनी जन्मदात्री माँ के प्रति कृतघ्न नहीं होते हैं, फिर मैं तो मनुष्य हूँ ! उस पर, अहित करनेवाले पर भी जो क्रोध नहीं करते हैं, किन्तु उपकार करते हैं, ऐसे उपकारी अरिहंत भगवान् को शीश पर धारण करनेवाला ऐसा मैं, उपकारक के प्रति कृतघ्न बनने का विचार भी मन में लाऊँ, तो भी लज्जा की बात है - अन्यथा 'मैंने श्री प्रभु को मस्तक पर धारण किया' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ?

पहली अमृत-दृष्टि : कृतज्ञता/उपकार का बदला चुकाने की कामना :

अमीचन्द पावन दृष्टिवाला था । उसकी दृष्टि में पहली पावनता थी माता-पिता को निरन्तर उपकारी के रूप में देखने की, तब फिर उपकार भूलने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती । उस उपकार का यथा-सम्भव बदला चुकाने का यत्न करना चाहता था । इसीलिए पिता की मृत्यु के पश्चात् वह देखता है कि 'पिता तो स्वर्ग सिधार गए, इसका माता को सबसे अधिक दुःख हो, यह स्वाभाविक ही है । अतः मैं सबकुछ ऐसा व्यवस्थित कर दूँ कि उनके मन में कोई कमी का अनुभव न हो ।' इसलिए माँ की पूरी सेवा-सँभाल और छोटे भाई के प्रति विशेष ध्यान स्वयं देने के साथ, अपनी सुशील पत्नी जिनमति को भी इस प्रकार तैयार कर दिया कि स्वयं से विशेष सेवा और देखभाल करे । दोनों की दृष्टि और विचार ऐसे बन गए थे कि यदि माता कभी

आवेश या उतावलेपन में कुछ बोल भी देतीं तो वे लोग उसे भी ठीक समझकर स्वीकारते । अर्थात् ऐसा ही वे सोचते कि 'माँ ठीक कह रही हैं, हमारी ही भूल थी, इसलिए माँ ने दुखी होकर इस प्रकार से कह दिया होगा, जो स्वाभाविक ही है ।'

यदि दृष्टि में अमृत होगा तो हुए प्रसंग को भी सही रूप में समझा जाएगा -

जगता-फलता कृतज्ञ भाव दृष्टि में अमृत घोलता है, जबकि कृतघ्न भाव नज़रों में विष घोल देता है । कृतज्ञता ही शीतलता है, अमृत है । कृतघ्नता ज़हर है ।

ज़हरभरी दृष्टि सभी कुछ उल्टा समझती है । अमृत-दृष्टि को सब कुछ सीधा, सरल दिखता है ।

2. अमीचन्द का प्रण

दूसरी अमृत-दृष्टि : नम्रता-निरहंकार, सीधा लेखा-जोखा :

सामनेवाले की भूल देखने में अहंकार है, स्वयं की भूल देखना नम्रता है । अहंकार है उल्टा लेखा-जोखा और निरभिमानता, नम्रता है सीधा लेखा-जोखा । एक दृष्टि में अमृत भरा है और दूसरे में विष । जीवन यदि है, तो बोलने-सुनने के अवसर तो आयेंगे ही । यदि दृष्टि दूषित, विषाक्त हुई तो उन अवसरों का दर्शन भी टेढ़ा ही होगा ।

मूल कारण है मन में समाई वस्तु :

मनुष्य को स्वयं की भूल देखने में इतना क्या कष्ट लगता है कि अन्तर में, मन ही मन में करनेवाली वस्तु भी उससे करते नहीं

बनती ? इस पर मनन करें, मन ही मन सोचें कि क्या मेरी कोई गलती है ? इससे हम कौन-से छोटे हो जाएँगे ? यदि मन ही मन करने का काम भी करते न बने तो फिर बाहर से नम्रता दिखाना आदि कैसे बनेगा ?

यदि देखेंगे तो समझ में आएगा कि हमारे अनेकों बाह्य, अनुचित कार्य, पहले मन में ही आरम्भ हुए थे। मन उन्हें स्वीकार कर लेता है, उनमें दिलचस्पी दिखलाता है, इसलिए उन्हें बोलचाल में या कार्यरूप में परिणत करते समय, बाधा नहीं आती। मन का अर्थ होता है दृष्टि। स्वयं की दृष्टि में ही यदि विष हो तो फिर प्रवृत्तियाँ भी ज़हरीली हो जाती हैं। इससे कौन रोक सकता है ? यदि दृष्टि को शीतल, अमृतमय रखना हो तो मन में अयोग्य कार्यों के विष को प्रवेश करने नहीं देना चाहिए। अहंकार एक विष है, अतः उसे रोककर हमें निरभिमानता, लघुता, नम्रता रूपी अमृत को अपनी नज़रों में निरन्तर, ठीक से, स्थापित रखना चाहिए।

तो, दो शीतलताओं की बात हो चुकी है :

एक है कृतज्ञ भाव; उपकार की स्मृति के साथ सदा उसका बदला ही चुकाने की मन में जागती हुई तमन्ना, और दूसरी शीतलता है निरभिमानता, नम्रता, लघुता एवं सीधा लेखा-जोखा। अभी तो आगे जाकर अमीचन्द के जीवन की अनेकों अमृत-रश्मियाँ देखने को मिलेंगी। तो, आगे चलें।

अमीचन्द और उसकी पत्नी के शोभनीय व्यवहार-बर्ताव से माँ सन्तुष्ट है। पर होता यह है कि छोटा लड़का जब दस वर्ष का होता है तो माँ एक घातक बीमारी से घिर जाती है और पुत्र तथा पुत्रवधू की अतिशय सेवा-सुश्रूषा के बावज़ूद मृत्युशैया पर आ जाती है।

कर्म बलवान् है :

'जब कर्म ही सामने आकर अड़ जाते हैं तो अच्छा लड़का भी क्या करेगा और पिता भी क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं। जब

भगवान् महावीर के कर्म रूठकर विपरीत हुए थे तो उनके साथ नित्य सेवा में रहनेवाले एक क्रोड देवताओं के रहते हुए भी गोशाले ने तेजोलेश्या उन पर डाल दी थी । क्या देवता यह चुपचाप देखते रहे ? 'अरे भाई, भगवान् का यह कर्म जब तक उदय में आ कर समाप्त नहीं हो जाता, तब तक उन्हें मोक्ष नहीं मिलेगा, इसीलिए उसे भोग लेने के लिए गोशाला पीड़ा दे रहा है ।' क्या ऐसा विचार किया ? 'छह महीने पीड़ा सहन कर लेने दो, जिससे इनका कर्म भोगकर खत्म हो जाए'- क्या ऐसा सोचा था ? नहीं, इनमें से कोई भी बात नहीं सोची थी, क्योंकि वे देवता तो प्रभु के परम भक्त थे, प्रभु को कष्ट सहते देख ही नहीं सकते थे । दिव्यज्ञानी थे, पीड़ा देने आनेवाले को पहले से ही परख लेते थे । देवता जबर्दस्त बलवान् थे । अच्छे-अच्छे मानवों को हरा सकते थे । तो फिर, यह हुआ क्यों ? कहें, प्रभु के कर्म इतने बलवान् थे कि उसने सबों को परे हटा दिया ! गोशाला ने कष्ट पैदा किए, फिर उन्हें टालने में देवताओं की भी नहीं चलने दी ! ऐसे हैं, कर्म बलवान् !

सोलह हज़ार यक्षों के द्वारा उठायी हुई होने पर भी सुभूम की पालकी, अर्थात् विमान, समुद्र में डूब गया था न ? उसके इतने बलवान् कर्म उदय में आए कि उन्होंने सभी को एक साथ चक्रवात में समेट लिया । 'मैं यदि इसे नहीं उठाऊँगा, तो देखूँ, क्या होता है,' ऐसा विचार सोलह हज़ारों को एक साथ आया !

माँ की उलझन :

अमीचन्द की माँ मरण शैया पर पड़ी हैं, उनकी जान दुविधा में है । यह देखकर अमीचन्द पूछते हैं: 'माँ, क्या परेशानी है ?'

'भाई, और तो कुछ नहीं, मगर तेरे छोटे भाई वीनु का ख्याल आता है कि मेरे मरने के बाद उसका क्या होगा ?'

अन्तिम समय का कर्तव्य :

अमीचन्द ने कहा: 'अरेरे माँ ! क्या ऐसी उलझन रखनी

चाहिये ? एक तो, अब यह जीवन समाप्त होने की तैयारी है, तो परलोक न बिगड़े इसके लिए अपनी आत्मा का विचार रखो और अरिहन्त भगवान की ही शरण लो । सभी जीवों के प्रति क्षमा-याचना, स्वयं के दुष्कृतों की गर्हा एवं अरिहंत देवों आदि के सुकृतों की अनुमोदना में ही अपने चित्त को पिरोओ । बेटे की चिन्ता करने से क्या मिलेगा ? इससे न उसका भाग्य सुधरेगा और न तुम्हें कोई लाभ होगा । चिन्ता भी तुम कब तक करोगी ? यहाँ जब तक प्राण हैं, तभी तक न ? परन्तु इससे अपने परभव को सुधारने के इस अन्तिम समय में जो करने योग्य है, वह चूक जाओगी ! फिर दूसरी बात यह भी है कि हमारे रहते क्या तुम्हें वीनु की चिन्ता करनी चाहिए ? क्या हमारे लिए तुम्हें कोई शंका हो रही है ?'

माँ बोली: 'नहीं, नहीं । वैसे तो तुम लोग उसे सँभालते ही हो, मगर माँ का जीव है बेटा, मानता नहीं है ।'

अमीचन्द की प्रतिज्ञा :

'तो ठीक है, यदि तुम्हारे मन में कोई अँदेशा है, तो मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं चाहे जैसी परिस्थितियों में रहूँ, मैं उसे अच्छेसे सँभालूँगा' अमीचन्द ने कहा ।

जैसा संकल्प अमीचन्द ने लिया, वैसा ही उसकी पत्नी जिनमति ने भी लिया ।

माँ के दिल को शान्ति पहुँची, वे बोली: 'अमु ! बस बेटा; अब मेरी चिन्ता मिट गई । वैसे भी चिन्ता करने लायक कुछ था तो नहीं, पर जीव डरपोक है, वह ममता का मारा मुफ्त के विचार किए जाता है । पर तुम दोनों तो मुझे शांति देने वाले हो और फिर जब तुमने इस बात को खास मन में बसा लिया है, तो अब उस पर चिन्तित होने की कोई जरूरत ही नहीं रह गई । अब मैं भली और मेरा नमोकार मंत्र भला !'

माँ का मन शान्त हुआ । अब उन्होंने अपने मन को धर्म में

लगाया । अमीचन्द को भी शान्ति मिली । बाद में माँ ने समाधि - मरण पाया । उनके छोटे पुत्र विनयचन्द को जिनमति अपने पेटजाए पुत्र से भी अधिक चाहती हैं । उन्हें पूरा पूरा खयाल है कि उन्होंने अपनी सासु से क्या वादा किया था । पुत्रवधू के रूप मे सभी जिम्मेदारियों को वे ठीक से निभा रही थीं, तो फिर उनके पुत्र को पालने में क्या वे कमी रखनेवाली थीं ?

तीसरी अमृत - दृष्टि : आत्मीयता :

नज़रों में तो यह आत्मीयता भी एक शीतलता है । कन्या का विवाह हुआ तो उसका घर बदल गया । पहले वह माँ - बाप के घर को अपना घर कहती थी । विवाह के बाद पति का घर उसका घर हो गया है तो उसे इस घर को पूरी तरह से अपना लेना चाहिए । फिर सास - ससुर, ननंद-देवर-जेठ आदि सभी को अपना आत्मीय मान लेना चाहिए । उन्हें वो अपना मान नहीं पाती क्योंकि मन में विचार भरा होता है कि 'ये तो पति के सगे हैं, मेरे नहीं', और इसीलिए संघर्ष उत्पन्न होता है । यह पराएपन की कल्पना ही दृष्टि में ज़हर पैदा कर देती है । इसी विष में से कड़ुवाहट, विभेद, क्लेश पैदा होते हैं, अमृत में से नहीं । अमृत तो सामनेवाले के तानों, बखेड़ों, तकरार को भी शान्त कर देता है । वहाँ इतना ही अमृत चाहिए कि 'अब तो जब, जीवन यहीं बिताना है तो इन सभी को आत्मीय समझकर बर्ताव करें । इन सबमें इस प्रकार से घुल-मिल जाएँ जैसे दूध में शक्कर ।'

सभी कुछ मन की कल्पना पर है । सामने वाले को अपना मान लेने के बाद यदि उनमें खामियाँ भी होती हैं तो भी व्यवहार मीठा होता है । मगर पराया मानने के बाद, अनेक बार, उनका अच्छा व्यवहार भी गलत समझ लिया जाता है । ऐसी पराएपन की कल्पना ही दृष्टि का विष है । ज़हरीली दृष्टि के जीवन भी ज़हर भरे बन जाते हैं ।

3. तारा का विष:

भाई का विवाह तारा के साथ:

जिनमति भी अमीचन्द की ही भाँति अमृत - दृष्टि वाली है। देवर को अच्छी तरह से देख- भाल कर बड़ा करती है। वह भी भाभी को माता के समान मानता है। समय बीतते कहाँ देर लगती है ? विनयचन्द्र पढ़ - लिखकर जवान होता है। अब उसके विवाह का भी प्रश्न उठता है। जिनमति तो थी गाँव की कन्या। विनयचन्द्र का शहर की, अच्छे घर की एक कन्या, तारा के साथ विवाह कर दिया जाता है। वह इतना पुण्यशाली है कि बड़े भाई और भाभी दोनों में से एक ने घर की और दूसरे ने दुकान की सारी जिम्मेदारियाँ सँभाल रखी हैं।

विनयचन्द्र और उनकी पत्नी तारा, दोनों ही निश्चिन्त हैं। जब कभी वह पूछता है तो भाई-भाभी कहते हैं, 'करना न बाद में सब कुछ, करना तो पड़ेगा ही। हम लोग जब तक बैठे हैं, तब तक तुम्हें चिन्ता-फिकर नहीं करनी है।'

चौथी अमृत - दृष्टि : दूसरों के लिये कुछ कर गुजरने की वृत्ति :

दृष्टि में अमृत है, विष नहीं, इसलिए मन में भी नहीं आता कि 'क्या हम ही अकेले मरते रहेंगे, और वह बैठा-बैठा रोटियाँ तोड़ेगा ?' सचमुच आत्मीय मान लिया यह एक अमृत है। तो दृष्टि में दूसरा अमृत यह बहता है कि दूसरों का करके हम कोई घिस थोड़े - न जाएँगे ? उल्टे, इससे सामनेवाले का प्रेम, सद्भाव, आदरपूर्ण व्यवहार मिलेगा जिससे हमारा दिल प्रफुल्लित रहेगा और वह व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों से बचेगा, जिससे प्रसन्नता होने के कारण, शरीर में रक्त बढ़ेगा। अधिक परिश्रम करने से हमारा स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा। निरोगी शरीर से शुभ भावोल्लास और आत्मा का चिन्तन करने का अवकाश मिलेगा।' दूसरों का कार्य करने की वृत्ति में अमृत बसा है। 'सुकुमार बने रहना, सेवा-कार्य से भागना, अपना स्वार्थ ही साधना, दूसरों की फिक्र नहीं करने की आदत विष है। अमृत भरा जीवन अदभूत है। दिल में अभिमान-विषयोन्माद एवं ईर्ष्या का रहना ज़हर के समान है।

तारा की दृष्टि में ज़हर :

अमीचंद और जिनमति के जीवन तो शीतल दृष्टि वाले हैं, परन्तु विधि की विचित्रता तो देखें कि विनयचन्द्र की पत्नी तारा इसे पचा नहीं सकी ! इसका कारण भी यही था कि उसकी दृष्टि में विष भर आया था। उसे ऐसा लगा कि 'ये यहाँ तो मेरे जेठ-जेठानी हैं, मगर सासु-ससुर से भी ज्यादा वर्चस्व रखते हैं और हम लोगों को जैसे उनका आश्रित होकर, गुलाम बनकर रहना है ! फिर, सारे दिन जेठानी आस-पास रहती हैं इसलिए दिन भर उनकी मान - मर्यादा का ध्यान रखना पड़ता है, इससे पति के साथ कभी खुलकर बात भी नहीं कर

पाती हूँ ! फिर, एक बात और, मेरा पति अपनी भाभी को मानों भवानी माता मानता है, पूजता है, तो पति में कोई जोर है या नहीं ?...

यह सब है क्या ? दृष्टि में अहंकार, ईर्ष्या और विषय-लंपटता का विष ! अहंत्त्व का ज़हर हितकारी दबाव भी पसन्द नहीं करता है, विषयोन्माद के विष से मर्यादाएँ खटकती हैं और ईर्ष्या के विष में वात्सल्य से भरी जेठानी का पद भी असहनीय लगता है । इस विष से सीधा भी उल्टा दिखता है, जीवन कडवाहट से भर जाता है ।

मौज-मज़ा की सामग्री की कोई कमी नहीं है । दुःख-कष्ट तो खैर हैं ही नहीं, बल्कि प्रेम की लहरें और सेवा-भाव बरस रहे हैं ! कोई भी अच्छी वस्तु घर में आती है तो विनु और तारा को दी जाती है ! कोई भेद नहीं है । फिर भी, नज़रों का ज़हर ऐसी वस्तु है जो तारा को सुखी और स्वस्थ नहीं रहने दे रहा है । मन बेचैन है कि ऐसा कब तक चलेगा ? उसे दुःख ही दुःख दिखता है ।

कौन करता है दुखी ? जीवन दुःखी कौन कर रहा है ? संयोग या दृष्टि ? कहना ही पड़ेगा कि अधिकांश में ज़हर भरी दृष्टि ही दुखी बनाती है । यदि देखें तो दिखेगा कि अनेकों धनवानों की अपेक्षा, अमृत भरी दृष्टिवाले निर्धन अधिक सुखी हैं । संयोग तो धनवानों को सुन्दर मिले हैं, मगर दृष्टि विषाक्त है इसलिए वे सुखी नहीं हैं । अहंकार, विषयोन्माद, ईर्ष्या आदि ज़हर सुख को दूर कर देते हैं और दुःख को अपने पास ले आते हैं ।

1 - अहंकार का विष :

गाँव का अमुक व्यक्ति मेरी बात नहीं मानता, मेरी बुराई करता है, 'वह खुद को क्या समझता है ?' ऐसे, अहंकार दृष्टि से देखने से हम दुखी होते हैं । इससे विपरीत उस अमीर के बदले किसी गरीब की अनेक लोग निन्दा करते होगे, निर्धन का कोई मानता नहीं होगा फिर भी, वह निर्धन यदि निरभिमान रूपी अमृत भरी नज़रें रखता है तो उसे विचार आएगा कि 'हम कहाँ पूर्व महापुरुषों के समान अच्छे मनुष्य हैं या हम कहाँ हैं पुण्यात्मा या परोपकार करनेवाले कि हमारी सभी

प्रशंसा ही करें ! कोई भी निन्दा नहीं करे ? या सभी हमारी बात मानें ही ? अतः चलने दो, यह दुनिया जैसी भी चले, उसकी ओर अधिक देखने की ज़रूरत नहीं है ।' दृष्टि में यदि यह निरभिमानिता का अमृत हुआ तो निर्धन भी सुखी रहेगा और यदि अहंकार का विष हुआ तो धनवान भी दुखी रहेगा ।

2 - विषयोन्माद का विष :

विषयोन्माद के विषवाले को चाहे जितना मिले तो भी वह उसे कम ही मानता है । । बादशाह सिंकदर को असन्तोष था, रोज नई-नई लूट चलाता एवं नित नयी स्त्रियों को उठाकर ले आता, फिर भी उसका उन्माद कम नहीं होता था । इनसे सुख या स्वास्थ्य कैसे मिल सकता है ? विषय इन्धन जैसे हैं और वासनाएँ अग्नि समान होती हैं । उनमें चाहे जितने विषयों का होम करो, वे शान्त नहीं होतीं, बढ़ती हैं । सन्ताप बना रहता है । वह निर्धन जो विषयोन्मादी नहीं है, अल्प में सन्तोषी है, उसकी दृष्टि अमृतमय, शीतल है तो उसी में वह आनन्द से रहता है ।

3 - ईर्ष्या का विष :

फिर, ईर्ष्या का तो कहना ही क्या ? दूसरों का शुभ सहन नहीं होता,वहाँ सदैव सन्ताप रहता है । परिस्थितियाँ तो वैसी ही बनी रहती हैं, मगर दृष्टि में वैरभाव आ जाने से, उस ज़हर से व्यर्थ ही जलते रहना पड़ता है ! अमीरी हो, खुद को यथेष्ट मिला हो, फिर भी इस विष से निरन्तर जलते रहना पड़े, यह कैसा दुर्भाग्य ? जब कि निर्धन होते हुए भी, अगर दृष्टि पूरी तरह से स्नेह और पर प्रमोद रूपी अमृत से छलछलाती रहे, तो दूसरों का अच्छा सहन होता है, हृदय हिलोरें लेता है, कलेजे में ठंडक रहती है - सन्ताप नहीं रहता ।

अमृत-रश्मियाँ पाँचवीं-छठी :

विषय-तृप्ति एवं स्नेह-प्रमोद :

मानव-जीवन का आनन्द अमृतमय, शीतल दृष्टि रखने में है ।

देखें, कितने प्रकार की शीतलताओं का विचार हुआ है ? (१) माता-पिता को सदा उपकारी मानने का अमृत । (२) उपकार को यथासम्भव लौटाने के कृतज्ञ भाव का अमृत । (३) आत्मीयता का अमृत । (४) प्रत्येक प्रसंग को शुभ समझने का अमृत, नम्रता और विनम्रता के साथ स्वीकारने का अमृत । (५) विषयों से तृप्ति का अमृत । सबको स्नेह-प्रमोद से देखने का अमृत । इन सभी को अपनी अमृतमय दृष्टि में रखना चाहिए ।

4. स्त्री चरित्र

तारा की उकसानेवाली शिकायतें, विनयचन्द्र का स्पष्टीकरण :

तारा की शिकायत :

छोटे भाई की पत्नी तारा बेचारी अहंकार, विषयोन्माद तथा ईर्ष्या की पीड़ा से विपरीत बुद्धि वाली बन गई है। साल-दो साल पहले ही शादी हुई, मगर इतने में ही उसकी भ्रमित बुद्धि में बहुत कुछ विपरीत दिखने लगा है। उसे सब असह्य लगने लगा है इसलिए वह अपने पति विनयचन्द्र को सच-झूठ बोलकर, कान भरती है।

एक दिन वह कहती है कि: 'आपके घर में ऐसा क्यों चलता है ?'

विनयचन्द्र पूछते हैं: 'क्यों, क्या गलत हो रहा है ?'

'ठीक है, तो आप जानें, मगर यहाँ तो आपके भाई-भौजाई का एकछत्र राज्य चल रहा है ।'

विनयचन्द्र कहते हैं: 'अरे ! सत्ता कौन-सी आजमाई ?'

'सत्ता यह कि आपको और मुझे, वे लगातार हुक्म देते रहते हैं ।'

'तुम कहना क्या चाहती हो ? क्या हम लोग बुजुर्गों को सामने से आदेश दें, तो ठीक होगा ?'

तारा की बोलती बन्द हो गई तो स्त्रियों के शस्त्र रुदन का सहारा लेकर रोने-जैसे भाव चेहरे पर लाकर वह बोली: 'बस, तो फिर हमें कुछ बोलना ही नहीं चाहिए ?'

विनयचन्द्र कहते हैं: 'बुरा क्यों मानती हो ? भाई - भाभी ने तो मुझे पाल-पोसकर बड़ा किया है, उनका तो असीम उपकार है, इसलिए ज़रूरत होने पर वे आदेश देते हैं । मगर हमें हुक्म नहीं करना चाहिये ।'

तारा की करामात :

तारा देखती है कि पति के मन पर भाई-भाभी का गहरा असर है, इसलिए उसने उस समय बात बदल दी । परन्तु पति के पैर पकड़कर,पैरों में मस्तक नँवाकर बोली:'मेरे तो आप ही एक सहारे हैं । आप ही मेरे प्राण हैं, मेरे शरण हैं ! बस, मैं और कुछ नहीं जानती, और न मुझे और कुछ चाहिए ।' बस, यही रोने जैसी सूरत, दीनता-पराधीनता और शरणागत भाव के शब्दों ने विनयचन्द्र के दिल पर एक छिपा प्रभाव डाला ।

नया दाँव :

किसी दिन तारा ने फिर से बात उठाई और कहा: 'शायद आजकल, भाई आपसे कुछ पूछते-ताछते नहीं हैं ।'

'इन दिनों उन्हें बहुत काम रहता है ।'

'काम तो किस दिन नहीं होता ? मुझे लगता है...'

'क्यों रुक गईं ?'

'कह तो दूँ; पर आपको बुरा लग गया तो ?'

'यदि सच बात हुई तो उसमें क्या बुरा मानना ?'

तारा ने गप्प उड़ाई: 'बात यह है कि भाभी मेरे साथ बहुत कम बोलती हैं, इसलिए लगता है कि दोनों का हम पर से अब ममत्व घट गया है ।'

'अरे, ऐसा विचार क्यों आ रहा है ? उनकी ममता तो हम पर बहुत ज्यादा है, इसलिए सिर्फ बातें नहीं करते बल्कि हमारी सच्ची देख-भाल दिन रात करते हैं । अत: किसी भ्रम में रहने जैसी कोई बात नहीं है ।'

'अगर फिक्र करते तो क्या आपका शरीर ऐसा नरम रहता ?' तारा ने बात को पलटते हुए कहा ।

'तो फिकर तो तुम भी मेरी बहुत रखती ही हो ? तब भी ऐसा शरीर है । सवाल सँभाल रखने का नहीं है । शरीर है तो ठीक भी रहेगा और कभी कभी नरम भी होगा ।'

'पर उसका असर भाई-भाभी पर नहीं होता है । मेरा तो जी जल जाता है ।' ऐसा कहकर तारा ने आँखें आँसुओं से भिगो लीं । बस, उस दयनीय मुद्रा ने विनयचन्द्र के ऊपर भी कुछ प्रभाव डाला ।

शिकायत और स्पष्टीकरण :

फिर तो रोज ही तारा ने कोई-न-कोई शिकायत करना शुरू कर दिया । 'आज भाभी पड़ौसी के संग बातें करने में लग गईं, तो सारे काम का ढेर मुझे ही निबटाना पड़ा...' 'आज घड़ा फूट गया तो भाभी गुस्सा हो गईं, साड़ी खराब हो गई तो वे ऐसी झल्ला गईं कि मैंने वैसी

बातें अपने बाप के यहाँ भी कभी नहीं सुनी थीं,' - तारा का पुराण चल पड़ा !

फिर भी, विनयचन्द्र समाधान करता कि 'भाभी ने तो आज तक ढेर सारे काम किए हैं', 'नुकसान होता है तो वे सरलता से कह देती हैं, तभी तो हम थोड़ी-बहुत सावधानी बर्तेंगे,' 'झल्लाने की बातों में भी बहुत प्रेम छिपा रहता है, नहीं तो बाद में इतने अपनेपन का प्रेमभरा व्यवहार क्यों करते ? क्षणिक झल्लाहट देखने के बदले आगे-पीछे का बर्ताव - व्यवहार और दिल देखना चाहिए।' पर कौन सुनता है ये सब बातें ?

शब्द हैं कातिल खंजर :

बात यह है कि दोनों उत्तर-दक्षिण हैं। विनयचन्द्र भाई-भाभी पर पूरी ममता, सद्भाव, आदर भाव रखता है और तारा ईर्ष्या, दुर्भावना तथा द्वेष रखती है, इसलिए अपने पति के सच्चे स्पष्टीकरण उसे जँचते नहीं हैं। नाराजगी, आँसू, प्रतिदिन की हल्की बनावटी बातें आदि कर-करके वह पति को भ्रम में डालती रहती है। शब्दों का प्रभाव कातिल खंजर के समान होता है। रोज-रोज एक ही आशय के शब्द लौट-लौट कर कानों पर आते हैं तो उनका गहरा असर पड़ता है। इस पर पत्नी आँसू टपकाती है, शर्मिन्दा करती है, रोज हल्की -उथली बनावटी बातें करती है, पति को प्रतिदिन भ्रम में डालेगी तो क्या कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा ?

एक दिन तारा बोली: 'अब तो आप बड़े हो गए हैं, कल बच्चे के बाप बनोगे और यह भाभी जी आपको 'विनू' - 'विनू' क्यों कहती हैं ? देवर छोटा है तब भी उससे मान से बोलना चाहिए।'

विनयचन्द्र कहते हैं: 'उन्होंने मुझे पाल-पोसकर छोटे से बड़ा किया है, माँ-जैसा पाला है, वे पहले से ही मुझे 'वीनू' कहती आ रही हैं, तो वे वही तो कहेंगे।'

'अरे, आप तो भोले ही रह गए ! बचपन की बात और थी,

बड़े हो गए तो विवेक तो रखना चाहिए।'

'पर क्या अब हम उनसे कह सकते हैं कि हमें वे मान से बुलाएँ ?'

'कह नहीं सकते, पर उन्हें तो समझ में आना चाहिए कि इसके पीछे कौन-सा तत्त्व काम कर रहा है ?'

'भला कौन-सा तत्त्व ? बहुत प्रेम है !'

'रहने दो, रहने दो, बहुत प्रेम कर रखा है। पागल मत बनो, यह हम औरतों को समझ में आ जाता है, उतना भी तुम आदमियों को पता नहीं चलता ! यह तो तुम पर वर्चस्व जमाए रखने का उपाय है, परन्तु तुम मूर्ख न बनना। तुम्हारे हाथ में, बताओ क्या है ? दुकान, तिजोरी, गहने ? कुछ भी नहीं। मुझे तो अब इस घर में सुरक्षा भी नहीं लगती। यह तो तुम्हें और मुझे बाद की जिन्दगी में गुलाम बनाकर या भगाकर ही दम लेंगे !' इतना कहकर वह फिर से रोने बैठ गई। उसकी बातों के धीमे-धीमे चढ़ते प्रभाव से अब विनयचन्द्र भी डगमगाने लगे थे।

5. वासना और प्रतिकार

पत्नी का कैसा प्रभाव ? :

संसार कैसा है ? पत्नी की कितनी चालबाजी है ! व्यवस्थित शब्द बोलकर पति को धीरे-धीरे शीशे में उतार रही है, साथ में झूठी तो है ही, मायाचारी भी है और यदि कुछ भी प्रभावशाली नहीं हुआ तो आँसुओं का नाटक तो है ही ! और पत्नी के आँसू याने ? पुरुष तो ढीला-ढाला होता ही है ! क्योंकि संसार नहीं देखता इस प्रकार से श्रेष्ठ लगता सुख दिया जा रहा है । कोई जान न पाए इस प्रकार से जो मित्र एकान्त में धन पर धन देता जाता है, वह कितना प्यारा लगता है ? मित्र तो धन का सुख देता है, परन्तु यह काम सुख तो उसे भी पार कर जाए, ऐसा देती है । वह रोने लगती है तो पति पिघल जाता है, जो

स्वाभाविक ही है । वह तो जो उस सुख को पशु-क्रीड़ा मानकर तुच्छ समझता है, वह ही पत्नी के ढोंग में या मायाजाल में नहीं पिघलता है ।

काम सुख एवं आत्मानन्द :

शास्त्र यह उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार से, जब तीव्रता से सिर दर्द कर रहा हो तो हमें भले ही भोजन का मन न हो, न वाहन अच्छा लगे अथवा न धन-दौलत सुख दे पाए, मगर हम काम वासना के सुख में मस्त बन सकते हैं । इसी प्रकार से महात्माओं पर दुष्टों का उपद्रव - उपसर्ग भले ही बरस रहा हो फिर भी आत्मा के आनन्द एवं परमात्म भाव की निर्विकारी दशा की झाँकियों के आनन्द में वे मस्त रह सकते हैं । क्या यह बात ध्यान में आती है ? मगर यह कब होता है ? विपत्ति की बात तो बाद में करेंगे, मगर यदि इसे पहले कभी अच्छे समय मे किया हो; वीतरागी प्रभु का दर्शन स्मरण करते समय उनकी आँखों में वीतरागता, निर्विकारिता कैसी है यह देखा हो; प्रभु के जीवन के अनेकों प्रसंगों को अनेकों बार ध्यान में रखकर, आत्मा की निर्विकार दशा की झाँकी का अनुभव तथा ज्ञान किया हो ।

हमें सदैव चिन्तन करते रहना चाहिए कि -

विषयों में निर्विकारी कैसे रहें ? निर्विकार दशा का चिन्तन :

'मैं कौन हूँ ? मैं तो वास्तविक स्वरूप में शुद्ध-अछेद्य-अभेद्य, किसी भी प्रकार के विकार बिना का हूँ ! मुझे भला इन इन्द्रियों की सुरसुराहट से क्या लेना-देना ? इन्द्रियों को विषयों से विडंबित करने का मेरा यह कैसा धंधा ? उन मनभाते या ना-सुहाते, विषय-सम्बन्धों में वही इन्द्रिय सुख-दुःख की अनुभूति करती है, अन्य इन्द्रियाँ नहीं । जैसे अन्य इन्द्रियों पर दूसरे विषय का कोई अच्छा-बुरा प्रभाव नहीं है, उसी प्रकार से मैं भी इस विषय का कोई उल्टा-सीधा प्रभाव क्यों लूँ और मुझे उसके अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव को अनुभव करने की क्या आवश्यकता है ? चक्षुओं को कोई अच्छी वस्तु देखने को मिलती है तो उससे चमड़ी की ठंडक नहीं बढ़ जाती, और चमड़ी को कोई स्निग्ध स्पर्श मिल जाता है तो जीभ को स्वाद नहीं आता । इससे विपरीत,

आँखों को कुछ खराब देखने को मिलता है, जैसे दूर से ही गन्दगी दिख जाती है तो नाक नहीं फट जाता है । या जैसे जीभ को कड़वी वस्तु खाने से कष्ट होता है, मगर कानों को कोई परेशानी नहीं होती, बस, इसी प्रकार से सभी इन्द्रियों के अच्छे-बुरे सम्पर्कों के कारण, भला मुझे हर्ष-खेद क्यों हो ? मैं क्यों लहराऊँ या कुम्हलाऊँ ? दूसरा अनुकूल-प्रतिकूल देखे-खाए और दूसरी ओर कोई चन्दन का विलेपन करे, तो मेरा उससे क्या सम्बन्ध, क्या लेना - देना ? आत्मा न तो जलती है और न शीतल होती है । मैं निर्विकार हूँ, काया विकारी है, वह जलती और शीतल होती है, पर मैं नहीं । फिर भी, जिस सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह तो वेदनीय नामक कर्म के शाता और अशाता नामक प्रकार के कारण है । उसे मुझे भोगना पड़ता है । मगर वे मेरे आत्म-स्वरूप को कुछ भी नहीं कर सकते हैं, मैं तो स्वरूप से अनन्त ज्ञानादिमय, निरंजन, निर्विकारी हूँ ।

यदि अच्छे समय में शुभ भाव विकसित किये हैं तो प्रतिकूल समय में शुभ भाव आ सकते हैं ।

ऐसी भावना, शुभ समय में, अर्थात् इच्छित विषयों के समय में, बारबार मन में बसाकर रखी हो, उन विषयों में दिलचस्पी न ली हो, तो समय आने पर अनिष्ट, प्रतिकूल अवसरों पर भी, उनसे अलिप्त भाव रख सकते हैं और आत्मा के सम भावके आनन्द में मग्न रहा जा सकता है । यह किसकी तरह ? जैसे किसी तेज सिर दर्द आदि के समय में भी जीव काम-भोग के आनन्द में मग्न रहता है, इसी प्रकार से, इस दृष्टान्त के ही समान, यहाँ भी प्रतिकूलता होते हुए भी आत्मानन्द में मस्त क्यों नहीं रहा जा सकता है ?

देव-गुरु को क्यों भूल जाते हैं ? देवगुरु के साथ स्वार्थ ? :

सांसारिक जीव को श्रेष्ठ लगनेवाले भोग का आनन्द, यह उसे देनेवाली पत्नी की ओर विशेष आकर्षित करता है । इसलिए उसका ढोंगी, कृत्रिम रुदन भी उसे उसकी ओर विशेष रूप से आकर्षित करता है, उसके प्रति अपनेपन का अनुभव कराता है, उसका पढ़ाया पढ़ता है

और अपने महा उपकारी माँ-बाप को भी वह भूल जाता है, उनसे अलग हो जाता है, शायद उन्हें शत्रु भी मानता है ।

जिनका उपकार स्पष्ट रूप से दिखता है, वैसे माँ-बाप को भी यदि भूल जाते हैं और उनके साथ भी यदि स्वार्थपूर्ण खेल खेलते हैं, तो फिर इतने ऊँचे मनुष्य भव और अन्य पुण्यों को देने का जिनका अद्भुत उपकार है, ऐसे देव-गुरु-धर्म को भूल जाए और उनके साथ भी स्वार्थ का खेल खेले, इसमें नई बात कौन-सी है ?

स्त्री में आकर्षित होकर डूबा और उसका पढ़ाया पढ़नेवाला जब इतना कृतघ्न बन जाता है तो उसका परिणाम क्या होगा ? उच्च गुण-सम्पत्ति एवं धर्म-साधना साधने को मिले मानव जीवन में, अधम जीवन जीकर भव-चौरासी के चक्कर में पड़ जाना पड़ेगा ! निम्न कोटि के जन्मों में दारुण यातनाएँ पानी पड़ेगी । वहाँ वह पत्नी हाथ थामने नहीं आनेवाली है ! साथ में भी नहीं खड़ी रहेगी ! वहाँ तो अकेले ही भयंकर कष्ट-यातनाओं की पीड़ा भुगतनी पड़ेगी ! इन सब का मूल क्या है? काम-सुख को श्रेष्ठ माना और पत्नी पर व्यर्थ ही न्यौछावर हो गए, यही न ?

विचारों से वासना जागती है :

इसीलिए यह विचारणीय है कि 'यह काम - भोग की कितनी विडंबना है ? इसे महत्त्व क्यों देना चाहिए ? बारबार विश्व में उसके द्वारा सरजी भयंकर बुराइयों को बार-बार क्यों नज़र के सामने न लाया जाय ? जहाँ मात्र गन्दगी है, ऐसे नारी देह पर क्यों आकर्षित होना चाहिए ? उसका विचार आता है, इसीलिए इन्द्रियाँ झंकृत हो जाती हैं । मगर यदि उस ओर ध्यान नहीं देंगे तो कोई परेशानी नहीं है । शास्त्रों में भी कहा गया है कि –

'काम ! जानामि ते मूलं, संकल्पात् किल जायसे ।

न चाहं तं करिष्यामि, यतस्त्वं न भविष्यसि ॥'

अर्थात्, 'हे काम ! मैं जानता हूँ कि तुम विचारों में से जाग

उठते हो, मगर मैं वैसा विचार ही नहीं करूँगा, तो तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं रहेगा।'

वासना को रोकने के लिए विचार ...

मोह के उदय के समय शायद विकार जाग जाए तो सोचना चाहिए - "मैं चिदानन्दघन आत्मा हूँ, मुझे भला इन्द्रियों की सुरसुराहट का पोषण करने के लिए दौड़ने की क्या आवश्यकता है ? और उनके पोषण से कहाँ स्थायी संतुष्टि होनेवाली है ? उल्टे, चंचलता बढ़ती जाएगी। इन्द्रियाँ मेरी हैं। उन पर मेरा प्रभुत्व है, इसलिए उनके द्वारा पैदा किया बखेड़ा, उनकी भूख-खुजलाहट को तृप्त करने की मुझे आवश्यकता नहीं है। उन्हें सन्तुष्ट न करने से कोई जीवन नहीं रुक जाएगा, बल्कि अधिक स्वस्थ और अच्छा जीवन जी सकूँगा। देव - गुरु और धर्म में ठीक से मन लगा पाऊँगा। उनके अगाध उपकारों को ध्यान में रखकर, उनके प्रति गद्‌गद् रह सकूँगा। अन्यथा विषय पात्र के आगे ही गद्‌गद् रहना पड़ेगा। अनन्त अनन्त काल, इन्द्रियों की सुरसुराहट का ही चाव करने और उनका पोषण करने में गँवा दिया, अब ऐसी भावना नहीं है कि वे जो कहें, हम करते रहें, ऐसा पागलपन का खेल, नादान चेष्टाएँ, अविवेकी प्रवृत्तियाँ करने की अब मुझे आवश्यकता नहीं है। अब भी अगर चेता नहीं, तो सामने नर्क की भट्टियाँ और परमाधामी के भाले मेरे लिए तैयार हैं ही।

चरणों में नत इन्द्राणियों की ओर पलक भी न झपकानेवाले जिनेश्वर भगवान् का सेवक मैं, क्या भटकती, गन्दी, स्वच्छंद स्त्रियों जैसी इन्द्रियों और विषतुल्य विषयों में रस लूँ ? नहीं-नहीं, अब तो तीर्थंकर भगवान् एवं महापुरुषों के भव्य त्यागभरे जीवन-प्रसंगों में लिप्त होकर, उनमें मन को पिरोकर रखूँगा। अपने आत्म-स्वरूप में चित्त को गूंथूँगा। आत्मा के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध रखनेवाले कर्म-सत्ता के भेद-प्रभेद, बन्ध-उदय-उदीरणा, प्रकृति-स्थिति-रसप्रदेश आदि का तथा जीव-अजीव आदि नव तत्त्वों का ही विचार करता रहूँगा। कैसे आत्मा स्वस्थ रहे, शान्त बने, शुद्ध हो, इन्द्रियों से स्वतंत्र बने- अब इन्हीं का

मन्थन करता रहूँगा..."

वासना को मन्द करने के लिए ऐसा विवेक, यह विचार धारा, यह निश्चय आवश्यक है । इनका निरन्तर सेवन करते रहना चाहिए । बाद में योग्य मात्रा में, विषयों की प्रवृत्तियों पर अंकुश ही रख देना चाहिए ।

मनोनिग्रह के उपाय :

प्रवृत्ति क्यों उठती हैं ? विषयों की ओर की प्रवृत्तियों के उठने का प्रमुख कारण है मन का उस ओर आकर्षित होना तथा ढलना और ढीला होना । फिर वासना जागकर जीव पर हावी हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । इसलिए इसकी नस को परखकर, इतनी सावधानी रखनी चाहिए कि मन को विषयों की ओर ले ही न जाए और यदि जाता हुआ दिखे तो उसे रोककर तुरन्त दूसरी ओर मोड़ दें, अर्थात् उस विचार को छोड़कर, कोई दूसरा अच्छा विचार शुरू कर दें, जैसे -

1- सिद्धगिरि की यात्रा का विचार करें । वह भी इस प्रकार से, मानों हम तलहटी में पहुँच गए हैं, सामने भव्य गिरिराज दिख रहा है ! अब हम ऊपर चढ़ते जा रहे हैं, उसमें बाबू का पहला मन्दिर आता है, उसमें मूलनायक भगवान् की गम्भीर, प्रौढ़ मूर्ति है । फिर, उनके बगल में सहस्रफणा पार्श्वनाथ भगवान् दिख रहे हैं, सभी मन की कल्पना में । बाद में, प्रदक्षिणा आदि करते-करते दर्शन करते हैं । उन सभी दर्शनों को करने के बाद, खिड़की से बाहर निकलकर गिरिराज पर चढ़े । ऊपर चढ़ने पर भरत पादुका का विराम आया । फिर दूसरा कुंड आया, उस ओर मुड़े, सीधे चले, चढ़ाई आई, यों करते-करते हनुमान गढ़ी पहुँचे. रामपोल में, चौक में... ठीक आदीश्वर मन्दिर पहुँच गए ! दादा को देखते हैं तो 'अहो ! कैसे प्रौढ़, बड़े शरीरी भगवान् दिखते हैं! कैसी विशाल गम्भीर मुखमुद्रा !' नमन करके चल पड़े, छोटी, बिचौली और बड़ी प्रदक्षिणा करने...बस, ऐसे ही विचारों में, उन-उन भगवानों को देखते जाना और प्रत्येक को 'नमो जिणाणं' बोलते, अंजलि के

साथ मस्तक नमाते जाएँ । प्रदक्षिणा के अन्त में गणधर भगवान् पुण्डरीक स्वामी के दर्शन करके फिर आदिश्वर दादा के पास आकर दर्शन-वन्दन-स्तुति करनी है, ऐसी मानसिक विचार धारा आरम्भ करके, भक्तिभरे भाव से आगे बढ़ते जावें...इसी प्रकार से अन्य किसी तीर्थ की यात्रा भी सोच सकते हैं । इन विचारों में उलझा मन, विषयों के विचार भूल जाएगा ।

कुछ और अच्छे विचार :

2-3- अथवा महावीर परमात्मा के जीवन का आप एकदम आरम्भ से स्मरण कर सकते हैं या किसी और महापुरुष के आत्म-पराक्रम के बारे में सोचें ।

4- या जीव विचार, नवतत्त्व, तत्त्वार्थ, कर्म प्रकृतियों और उनके बन्ध, उदय आदि के बारे में सोच सकते हैं ।

5- यदि अन्य कोई विचार तत्काल नहीं सूझे तो नवकार मंत्र या लोगस्स सूत्र जपने लगें, मगर गिनती करते जाएँ । इससे गिनती के अंकों पर ध्यान रखने से चित्त उनमें भली भाँति रम जाएगा तथा और कहीं नहीं भटकेगा, इस प्रकार से, मानों मन, सामने लिखे णमोकार के अक्षरों को एक-एक करके पढ़ रहा है, इस प्रकार से नवकार को याद करते जाएँ ।

इस प्रकार से मन को अन्य विचारों में रोके रखने से वह विषयों की ओर से हट जाएगा तथा वासना की जड़ उगने से पहले ही भग्न हो जाएगी । वासना के उदय की जड़ है वासना का विचार, वह अन्य विचारों से तिरोहित हो जाएगा ।

विषयों की ओर मन को कठोर कैसे बनाएँ ? :

जब मन विषयों की ओर ढलकर शिथिल बन जाता है, तो उसे कठोर बनाकर विषयों का तिरस्कार करनेवाला बनाना चाहिए । ये, अनन्त काल से मधुर लग रहे विषय जब तक कडुवे नहीं लगेंगे, बात नहीं बनेगी । किसी बड़ी, नुकसानदायक वस्तु के लिए जब बालक हठ

पकड़ लेता है, तो मन को कठोर बनाकर हम उस पर क्रोध करते हैं, न? इसी प्रकार से विषय संग से अपरम्पार महा हानि का विचार करके मन में विषयों के प्रति तिरस्कार-भाव हमें जगाना चाहिए । विषयों से कैसी-कैसी भयानकताओं का जन्म होता है, नर्क की अग्नि की भट्टी में सुलगना, अग्निमय पुतली से चिपकना आदि नर्क की पीड़ाएँ, तिर्यंच गति में मछली की जीते-जी ही चमड़ी उधेड़ना, फिर भजिए की तरह से तेल में तले जाना.. आदि भयंकर पीड़ाएँ नज़रों के सामने आ जाती हैं! मानों हम ही उन्हें भोग रहे हैं ! और इस प्रकार की पीड़ाओं में हमें विषय-वासनाएँ ही उलझाती हैं...ऐसे विचार हमें विषयों के प्रति तिरस्कार जगाते हैं ।

वीर्यनाश से हानि :

दूसरी ओर यह विचार करने जैसा है कि शरीर का राजा वीर्य है । उसके मजबूत होने पर ही अच्छी स्फूर्ति, अच्छी शक्ति बनी रहती है । काम-वासना के खेल में वीर्य नष्ट होता है, इन्द्रियों का तेज हर जाता है, शरीर रोग का शिकार बन जाता है, बुढ़ापा जल्दी आता है, जो स्वाभाविक ही है । क्यों हम अपने ही हाथों से अपने जीवन-सत्त्व का नाश करते हैं ? याद रखें, स्त्री के रूप, शरीर, सौन्दर्य पर दृष्टि डालना, यहाँ तक कि उसका विचार करना भी वीर्यनाश करता है, तो फिर वह भी क्यों किया जाय ?

शायद कहें, क्या करें ? मोह का उदय पछाड़ता ही है न ?

सच्ची इच्छा से ही सिद्धि मिलती है :

'मन को कैसे रोकें ?' परन्तु यह तो गलत तरीके से मोह को सिर पर चढ़ाने जैसा हुआ । फिर भी, यदि उसे रोकना चाहते हैं तो यह उपाय है कि वासना का पोषण करने की इच्छा ही मत करो । सच तो यह है कि अनेकों बार हम कोई वस्तु को चाहते हैं, इसीलिए उस वस्तु की कामना हमें परतन्त्र, उसका गुलाम बना देती है । मन में निश्चय कर लो कि 'हमें यह वस्तु चाहिए ही नहीं' तो उसकी ओर मन में सहज ही ग्लानि,अनजाना उपेक्षा भाव, तिरस्कार पैदा हो जाते हैं । यदि कोई

व्यसन हो, और उसे त्यागने का मन में दृढ़ संकल्प कर लें तो उसे छोड़ने में, फिर देर नहीं लगती । और यदि हम इस प्रकार से कहते रहें कि 'क्या करूँ ? छूटता ही नहीं है ।' तो उससे कुछ भी नहीं होगा । अन्तर में यदि इच्छा होगी कि 'यह मुझे नहीं चाहिए' तो फिर छोड़ने में देर नहीं लगेगी । इसी प्रकार से 'वासना के पाप एवं विषय मुझे चाहिए ही नहीं' ऐसी मनोकामना को यदि मन में दृढ़ कर लें तो पाप भी फीके पड़ जाएँगे ।

प्रश्न: विषयों की इच्छा को छोड़ना कहाँ सरल है ?

उत्तर: विषयों को भोगने की इच्छा को छोड़ना सरल है यदि उनकी भयानकता का चित्र आँखों के सामने उपस्थित हो जाए । उस भयंकरता को समझने के लिए उसकी समस्त हानियों की क्रमबद्ध तालिका बनाकर उन्हें मन में बसा लेना चाहिए । वासना की उपरोक्त हानियों के अलावा (1) गुलामी (2) विह्वलता (3) विषय रस के कारण घटता धर्मरस (4) क्षय आदि रोग (5) नौ लाख जीवों का नाश... आदि आदि नुकसान भी होते हैं ।

विषयासक्ति के बाद की हानियाँ :

(1) देखने-चिन्तन करने का अवकाश और इच्छा चाहिए,तो अवश्य दिखेगा कि इन्द्रियों के विषयों की ओर आकर्षित होने में, शक्तिहीन बनने में कितनी सारी खराबियाँ हैं । सबसे बड़ी बुराई उनका गुलाम बनने में है । विश्व में जिन्होंने भी विषयों के आकर्षण को तजा है, उन्हें ऐसी गुलामी नहीं सताती । उन्हें विषयों और उन्हें देनेवालों की चापलूसी, पराधीनता, गिड़गिड़ाहट नहीं करनी पड़ती । अरे थोड़ी सी ही सही, यदि आसक्ति को छोड़ दें; इतने अंश में तो निश्चिन्तता से घूम सकते हैं । मान लो, जैसे उन्हें खाने-पीने की आसक्ति है । मगर, स्त्री का आकर्षण त्याग दिया है, तो उन्हें स्त्री की गुलामी नहीं करनी पड़ेगी । आज उस आकर्षण के शिकार अनेकों व्यक्ति दुर्दशा भोग रहे हैं । देवी के दास बनकर रह रहे हैं । खाने का लालची मनुष्य, खिलानेवाले की जी-हजूरी और गधा-गुलामी कर रहा है ।

(2) तब, विषयासक्ति में मन की विह्वलता अधिक रहती है। मनपसन्द विषय मिले, तो भी कहीं वे चले न जायें, स्त्री नाराज़ न हो जाए, ऐसे-ऐसे भयों की विह्वलता बनी रहती है ! और यदि नहीं मिलती है, तो कब मिलेगी ? कैसे मिलेगी ? आदि दुःखों की बेचैनी ! शंका कुशंकाएँ तो चलते-फिरते होती रहती हैं ! अच्छे-बुरे विषयों की तुलना करने में मन विह्वल ही रहता है। शान्ति नहीं मिलती। इस विह्वलता के कारण शान्ति से सुख भोगने की बात एक ओर रह जाती है।

(3) तब, विषयों के उद्वेलित रस में धर्म का रस समाप्त हो जाता है, धर्म गौण बन जाता है। एक तो अनादि का विषय-संग, फिर उसमें भी यह रस मिल जाता है, तो बाकी क्या रह जाता है? मन में उस रस का आधिक्य, अतः धर्मरस रसीला नहीं लगता। दोनों आमने-सामने हैं। धर्म का रस होता है तो विषय सारहीन लगते हैं। विषयों का रस जब होता है तो धर्म सामान्य लगता है। सोचने की बात है। धर्म का रस जगाने के लिए मात्र मनुष्य भव ही उत्तम होता है। यदि इस जन्म में उसे अंकुरित नहीं किया गया तो फिर उसे कब जगाएँगे ? विषयों का रस छोड़ा नहीं जाता, इसलिए धर्म का रस जाग नहीं पाता। वह अगर न जागे तो कितनी बड़ी हानि होती है ? कोई पूछे कि 'मरने के बाद यहाँ से क्या ले जाएँगे ? तो जवाब विषय रस ही होगा न ?' हृदय तामसिक, राजसी विचारों से घिरा रहता है तो इन्द्रियों के विषयों में ही आनन्द और शान्ति मिलती है। फिर वह उन कलुषित विचारों का ही पोषण करता रहता है। फिर जैन शासन एवं वीतराग अरिहंत देव को पाने तक पहुँचने पर भी, धर्मरस जाग्रत नहीं हो पाता है और विषय रस यथावत् बना रहता है जो बहुत निन्दित, हानिप्रद और दुर्भाग्य की बात है।

क्षय आदि रोग :

(4) विषयों की इच्छाओं को दबाने के लिए विषयों की हानियों को भी दृष्टि के सम्मुख रखना चाहिए, उनमें से एक आसक्ति के

कारण शरीर के वीर्य का नाश होता है, जिससे क्षय, सर्दी जैसे रोग बलवान हो जाते हैं। जब तक शरीर में वीर्य का अच्छा भंडार होता है, तब तक वह रोगों का सामना करने का बल, प्रतिरोधक क्षमता रखता है, रोग को बलवान नहीं बनने देता, मगर उसके समाप्त होने पर यदि रोग हावी हो जाते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कहते हैं, 'हवा जब बिगड़ती है तो रोग के कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होकर बीमारी आती है। मलेरिया की हवा से मलेरिया बुखार आता है।' मगर यथार्थ स्थिति तो यह है कि शरीर के अन्दर मलदोष, वायुदोष आदि के कारणों से कीटाणुओं का सामना करने की शक्ति घट जाती है, इसीलिए रोग चढ़ बैठता है; नहीं तो उस बिगड़ी हवा में रहनेवाले सभी लोगों को रोग क्यों नहीं हो जाता है ? आज की पद्धति में इस मूल कारण को न देखकर, किन्हीं अन्य उपायों से रोग को अन्दर दबा दिया जाता है, जो बाद में जाकर एक या दूसरी तकलीफ पैदा कर देते हैं। वास्तव में तो यह देखने लायक होता है कि शरीर का वीर्य - ओजस - वायटॅलिटी नष्ट होने से रोगों को स्थान मिल रहा है।

(5) इस हानि के बाद विषय सेवन के प्रत्येक अवसर पर नौ लाख पंचेन्द्रिय जीव मरते हैं, उसका पाप... आदि का भी नुकसान होता है। इसलिए वासना में अन्ध न बनें और पत्नी के मिथ्या मोह में न बह जाये।

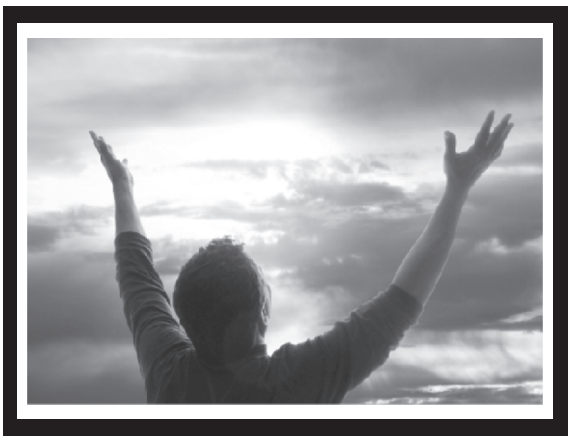

6. अलगाव की माँग

नज़र बदली :

तारा थी शहर की कन्या ! चोंचले और नाटक करना उसे बहुत आता था ! उसने विषयान्ध पति विनयचन्द्र को धीरे धीरे ऐसा फन्दे में फँसाया कि वह बिचारा कामराग में बँधा उससे प्रभावित होता गया और अपने महा उपकारी भाई और भाभी के प्रति अरुचिपूर्ण हो गया ! उनमें उसे दोष दिखने लगे । पत्नी जैसा उसे सिखाती, वह वैसा सीखने लगा ! उसकी दृष्टि में भाई और भाभी स्वार्थी और शत्रु जैसे दिखने का विष आता गया । एक बार दृष्टि विषाक्त बन गई फिर उनका अच्छा बर्ताव भी उसे खराब लगने लगे तो इसमें आश्चर्य की क्या बात

है ? भाई उसके साथ भोजन करने बैठ जाए तो उसे लगता कि,'देखा ? अब भी मुझे छोटा बालक ही समझते हैं । मुझे उनकी देख-रेख में ही भोजन करना चाहिए । और भाभी ही परोसेगी, तारा नहीं ! उस समय यदि भाभी समय निकालकर उसे अलग से भोजन करा देती तो उसे ऐसा लगता कि 'देखा, आ गया न भेदभाव !'

उसकी पत्नी के नए कपड़े-गहने भाभी के साथ ही बनते तो उसे लगता कि 'देखा, अभी भी भाभी को कितनी इच्छाएँ हैं सभी कुछ साथ - साथ पाने की !' और यदि कभी तारा के अकेले के कपड़े-गहने बनवाए जाते तो मन में यह लगता कि 'यह कैसी घूस दी जा रही है ! यह करके मानों बहुत प्रेम जता रहे हैं । अब जीवन भर हमें दबाए रखेंगे ।' दुनिया दुरंगी है । ऐसी दुनिया को प्रसन्न करने का प्रयास करना मानों कोयले को सफेद-उज्ज्वल करने जैसा है ।

दृष्टि में विष समाने के बाद, कुछ भी सीधा नहीं दिखाता है । इससे विनयचन्द्र मन ही मन में तपता रहता और पत्नी के साथ अकेले में भाई - भाभी की निन्दा करता । तारा देखती कि अब उनमें बदलाव आ चुका है, इसलिए एक दिन उसने पूछा:

तारा अक्ल देती है :

'कहो तो, ऐसा कब तक चलाना है ?'

यह कहता है: 'अब तो मैं भी ऊब गया हूँ, इसलिए अलग घर बसाने की बात कहने का अवसर देख रहा हूँ ।'

'सिर्फ घर ही अलग ? और दुकान इकट्ठी ?'

'और फिर क्या ?'

'क्यों, क्या दुकान में साथ में सिर मुँड़ाना है ?'

'पर उसमें तो भाई की जानकारी और प्रतिष्ठा अधिक है, इसलिए अलग होने में फायदा नहीं होगा ।'

तारा बुद्धिमानी भरी अदा से कहती है: 'अरे, आप तो पागल

हो, पागल ! कमाई तो पुण्य के अनुसार होती है, अक्ल-आबरू से नहीं ! आप तो समझते नहीं हैं । पर अब देखो कि तुम्हारे पुण्य से काम चल रहा है और यश भाई कमा रहे हैं तथा कमाई भी । अभी अलग करके तो देखो, फिर देखो आपका भाग्य कैसा खिलता है और उन भाई साहब का क्या हाल होता है !'

विनयचन्द्र कहता है: 'तुम्हारी बात सच है । तब तो अब, सभी-कुछ अलग कर लेते हैं ।'

नज़रों में जब तक अमृत था, तब तक वह भाईभाभी के माता-पिता तुल्य वात्सल्य के जल में मानों किलोलें कर रहा था, निश्चिन्त और बेफिक्र । अब परिस्थिति बदल गई है । पत्नी के द्वारा बार बार बहकाने के कारण उसकी नज़रों में भी ज़हर भर गया है, अतः भाई-भाभी के वात्सल्य को वह स्वार्थ और मायाचार का खेल मानता है । मन ही मन सुलगता रहता है, उलझन में रहता है । 'भाई से कहूँ कैसे ?'

होशियारी से अलगाव की माँग :

मगर तारा भी धीठ है, रोज ताने मारती है, एक या दूसरे प्रकार से बात को धार देती रहती है । एक दिन जब फुर्सत में बैठे थे, बड़े भाई स्नेह से पूछते हैं: 'क्यों वीनु, खुश तो है न ?'

मौका आ गया समझ कर यह कहता है: 'क्यों, कैसे पूछना पड़ा ?'

अमीचन्द कहते हैं: 'पूछना तो चाहिए न ? माँ को अन्तिम वचन दिए थे कि वीनु को उनसे सवाया संभालूँगा ।'

'तो सँभालते तो हैं ही, न ?'

'फिर भी, पूछना तो पड़ता है । हम लोग चाहे जितना सँभालते हों, मगर तुम्हारे दिल को जरा भी असन्तोष नहीं होना चाहिए ।'

'मुझे तो बहुत सन्तोष है, क्योंकि आप हमारी कितनी अधिक देख-भाल करते हैं ! मगर...' ऐसा कहकर वह खड़ा हो गया ।

अमीचन्द पूछते हैं: 'क्यों - क्यों ? बोलते हुए रुक क्यों गए ? कहो, खुशी से कहो, पर क्या ?'

'कह तो दूँ, मगर आपके दिल को थोड़ा-सा दुख होगा ।'

'अरे पगले ! दु:ख क्यों ? तुम कहोगे तो और भी अच्छा है । यदि कुछ सुधारने जैसा हुआ तो पता तो चलेगा । उसे कर सकते हैं, सुधार सकते हैं । कहो, निःसंकोच कहो, क्या है ?'

विनयचन्द्र कहता है: 'और तो कुछ नहीं है, लोक-व्यवहार से ऐसा लगता है कि मैंने आपको आज तक बहुत तकलीफ पहुँचाई; इसलिए अब आपको शान्ति देना चाहता हूँ ।'

'अरे, शान्ति ही तो है, तकलीफ कैसी ?'

'तकलीफ यह है कि हम दोनों को आप और कितने दिन सँभालेंगे ? इसलिए अब ऐसा करें कि घर और दुकान से सम्बन्धित हमारा बोझ हम आपके सर से उतार दें ।'

'अर्थात् ?'

'यही कि अब हमें हमारा सँभाल लेना चाहिए । आपने आज तक हमारे लिए बहुत किया है और अभी भी कर रहे हैं । पर अब हमें भी तो सोचना चाहिए न ? कब तक आप हमें सँभाला करेंगे ?'

अमीचन्द ने कहा: 'तो भाई ! तुम्हें यदि ऐसा लगता है तो खुशी से दुकान की और घर की व्यवस्था तुम सँभाल लो । वैसे तो मुझे उसे सँभालने में कोई तकलीफ नहीं है, परन्तु तुम्हारे दिल को यदि यही लगता हो तो भले ही तुम सँभाल लो, सभी कुछ तुम्हारा ही तो है । हमें धर्मध्यान करने का अच्छा समय मिल जाएगा । इसमें बुरा क्या है ?'

निष्ठा एवं विवेक का अमृत :

बस ! विनयचन्द्र यह सुनकर सोच में पड़ गया कि अब क्या किया जाय ? यह तो उल्टे मुझे ही सभी कुछ सौंप रहे हैं ! अब विभाजन करने का कैसे कहें ? सच तो उसे अब समझ में आ जाना चाहिए था कि उसे जो पत्नी ने सिखाया था वह गलत था । भाई के मन में कोई विभेद नहीं है । वह तो 'सभी कुछ तुम्हारा ही तो है' ऐसा कह रहे हैं, सौंपने को भी तैयार हैं, फिर शेष क्या रह गया ? परन्तु उसे समझ में नहीं आया क्योंकि दृष्टि में से विवेकरूपी अमृत निकल चुका था । मनुष्य को पहचान कर व्यवहार करना चाहिए, ऐसी निष्ठा दृष्टि का अमृत है । इस निष्ठा रूपी अमृत का उसमें अभाव है और उसके स्थान पर अविवेक का ज़हर उसकी दृष्टि में व्याप्त हो गया है । ऐसी विषमयी दृष्टि से वह भाई को नहीं पहचान पा रहा है । हम लोगों का देव-गुरु के बारे में भी ऐसा ही है । उन्हें पहचान कर उनके बारे में निष्ठा रखनी चाहिए, इसके स्थान पर हम विपरित लोगों के कथन से फँस जाते हैं ।

विनयचन्द्र दुविधा में पड़ गया और भाई से बोला: 'सोचकर बताऊँगा ।'

क्या सोचना है उसे ? और कुछ नहीं, पत्नी की सलाह लेनी है । वह सिखाएगी, वैसा करना है । क्योंकि अब घनिष्ठ भाई-भाभी मिटकर स्त्री बन गई है ! कहाँ पिता के समान पालनेवाले भाई ? कहाँ माता की तरह से वात्सल्य देने और ध्यान रखनेवाली भाभी ? और कहाँ यह विषयांध - लंपट पत्नी ? परन्तु मोह का अन्धत्व यह सब नहीं देखने देता है ।

मोह का अंधत्व एक विलक्षण अँधेरा है :

जन्मांध को तो जो वस्तु होती है, वह नहीं दिखती है, मगर मोह द्वारा अंधे बने को तो जो वस्तु नहीं होती है वह दिखती है ! यहाँ पत्नी में विश्वसनीयता नहीं है, पर वह देख रहा है । मिथ्यात्व मोह का अंधापन भी ऐसा ही कार्य करता है । जगत् के पदार्थों में विश्वास रखने

लायक कोई भी तत्त्व नहीं है, परन्तु मोह हमें वह दिखाता है !

आत्मा के तारणहार धर्म एवं धर्म के अंगों में पीड़ादायकता नहीं है, पर मोह उसे दिखाता है ! लोकोत्तर जैन शासन को प्राप्त करने तक आ पहुँचने के बाद भी, ऐसा मोहका अंधत्व बना रहे, यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है ! कैसी मूढ़ता है ।

विनयचन्द्र ने अकेले में पत्नी से सारी बात की, सलाह पूछी: 'अब क्या करना है ? अब सारा नियंत्रण हमारे हाथों में आ रहा है । तो फिर हर्ज ही क्या है ?'

वह ईर्ष्या से कहती है: 'तुम तो नीरे भोंदू हो । यह तुम्हारा पुण्य साथ रहकर दबा जा रहा है, उसका क्या ? अब तो उनसे विभाजन ही माँग लो, फिर पता चलेगा, किसके पुण्य से सब चल रहा है ?'

विनयचन्द्र ने स्वीकार कर लिया, अवसर पाकर भाई से बोला:

'देखो न, मैंने बहुत सोचा, मगर मन को शान्ति नहीं मिलती ।'

अमीचन्द बोला: 'ऐसे दुःखी मत हो । माँ को दिए वचन के अनुसार, मुझे तो तुम्हें खूब आनन्द में रखना है, तो कहो, शान्ति का कोई रास्ता सूझ रहा है ?'

'हाँ, मुझे लगता है कि हमारी चिन्ता से आपको पूरी तरह से मुक्त रखना । आपने मुझे अपने पाँवों पर खड़े रहने लायक बना दिया है, इसलिए अब हम अलग रहेंगे, दुकान भी अलग करेंगे ।'

यह सुनकर अमीचन्द की क्या स्थिति होगी ? उसे आघात लगा । आश्चर्य हुआ कि यह इतना अधिक विनीत व्यक्ति उससे क्या कह रहा है ! अमीचन्द समझ गया कि यह उसकी स्त्री की सिखाई बात है । फिर भी, वह उसे समझाता है ।

संयुक्त परिवार के लाभ :

देखो विनू ! मुझे हर्ज नहीं है, पर इसमें आनन्द नहीं है । संयुक्त घर में एक-दूसरे का सहारा रहता है । लोगों पर हमारा वज़न पड़ता है । कई बार, एक के पुण्य से सभी का टट्टू चलता रहता है । रोग-कष्ट में अच्छी सँभाल होती है । ये सारे लाभ अलग रहने में नहीं होते । और तुम यह बात कर तो रहे हो, मगर यह तो सोचो, 'यह तुम्हारी भाभी तुम्हारे लिए सबकुछ करने वाली, उसे इस बात से कितना आघात पहुँचेगा ! लोग क्या कहेंगे ! इसलिए सोचो ।'

बड़े भाई ने सभी कुछ कहा, मगर वहाँ तो 'पढ़ो पोपटजी सीता राम !' की ही बात हो रही थी । स्त्री का पढ़ाया ही पढ़ना हो वहाँ दूसरी कोई बात कैसे सुनाई देगी या सोची जाएगी ?

वह तो कह देता है: 'माफ करें बड़े भाई साहब ! मुझे इसी से शान्ति मिलनेवाली है । इसलिए चार अच्छे आदमियों को बीच में रखकर इसे निपटा लें ।'

जिनमति को गहरा दुःख :

अमीचन्द ने देखा कि 'अब उसने उस वस्तु को निश्चित कर ही दिया है, और प्रतीत नहीं होता कि वह उसमें कोई बदलाव करेगा ।' इसलिए उसने जिनमति को बुलाकर उससे यह बात कही । जिनमति चौंक पड़ी ! उसे अपार दुःख हुआ !

वह कहती है: 'विनु ! विनु ! यह तू क्या बोल रहा है ? तू तो मेरे उल्लास को भंग कर रहा है ! माता जी ने जैसे कहा था, उस प्रकार से जिन्दगी भर तुझे सँभालने के मेरे अरमान हैं और तुझे अठारह-अठारह वर्षो से सँभालकर, पेट जाए पुत्र जैसी स्नेह की साँकल तेरे साथ बाँधी है । उसे तू इस प्रकार से तोड़ रहा है ? हे भगवान्, बोलते - बोलते उसका दिल भर आया, आँखों में से झरझर पानी बहने लगा । उसे अपनी निस्वार्थ भावना से की सँभाल पर पानी फिरता नज़र आ रहा था । अचानक कर्मो का यह कैसा प्रकोप हो रहा

है ?' उसे ऐसा लगा । घबराहट होने लगी । हृदय में साँसें अटकने लगीं । आँखों से आँसू बह रहे थे ।

कर्मों की गति न्यारी :

कहाँ उसकी अठारह वर्षों की मेहनत और वात्सल्य ! और उसके सामने देवरकी यह बेशर्मी ? यह कर्मों की विचित्रता नहीं है तो और क्या है ? उसे बहुत समय से चली आ रही तारा की गति-विधियों का पता ही नहीं था । सरल साफ दिलवाला भला क्यों शंकालु नज़रों से देखेगा ? क्यों वह पूछ-ताछ करता रहे ? यह परिणाम निश्चय ही पत्नी की सीख का था, परन्तु विनयचन्द्र को तो जिनमति की वर्षों की सेवा सँभाल पर ध्यान देना चाहिए था ना ?

मगर वर्तमान की तारा की चापलूसी से आकर्षित हुआ वह क्यों ध्यान देता ?

वर्तमान परिस्थितियों में फँसकर की जानेवाली धिठाई :

वर्तमान का ही देखने से दुर्दशा -

जीव अनेकों बार वर्तमान में फँस जाता है ! किसी ने सौ उपकार किए हों, वह भी यदि अब एक बार भी कोई प्रतिकूल काम कर बैठता है तो उन उपकारों को लेनेवाला इस हाल की घटना पर दिल बिगाड़ लेता है । पिता - गुरु के दिए उलाहने पर मन क्यों बिगड़ जाता है ? सच तो यह है कि हमें उनके अनन्त उपकारों के बारे में सोचना चाहिए, जिनके सामने उनका यह कड़ा व्यवहार कुछ भी नहीं है, उसे तो आनन्द पूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए । पर नहीं, हमें तो वर्तमान का ही देखना है, 'मुझे दोष क्यों दिया ?'

चाहे किसी ने पहले लातें मारी हों, मगर अब यदि चापलूसी कर रहा है, तो तुरन्त उसमें डूब जाते हैं । कुत्ते को चार बार धुतकारा, उसे डंडा भी मारा, परन्तु अब उसे हाथ का लड्डू दिखाया, तो दौड़कर आ गया न ?

मनुष्य की भी यह कैसी दशा है ? मिठाई से दस बार पेट दुखा था, बेचैनी हुई थी - वे दस बार लातें हुई, परन्तु अभी, जो फिर से मिठाई सामने आई तो मन ललचा रहा है । बस ... भूतकाल ध्यान में नहीं है, तत्काल ही दिख रहा है, उसकी यह दशा है । जीव ने अनन्त बार विषयों और कषायों के कारण अपार दुख सहा है, फिर भी, वह वर्तमान को देखकर पुनः उसमें झुका जा रहा है । कितनी बड़ी मूर्खता है ! मूढता है !

वर्तमान की परिस्थितियों में उलझने की मूर्खताओं के कारण विवाह के बाद अधिकांश लोग पत्नी में फँस जाते हैं, मोह जाते हैं और मातापिता, बड़े भाई आदि के दीर्घ काल के महान् उपकारों को भूल, उनसे द्रोह कर बैठते हैं ! उनका विश्वास तोड़ देते हैं । विनयचन्द्र भी उन्हीं में का एक बन गया था ।

जिनमति का हृदय टूट गया । उसे अपार दु:ख हुआ । करुण स्वर से रोती है ! अमीचन्द उसे शान्त करने जाता है, फिर समझता भी है कि जिस कड़ी मेहनत से उसने वीनु को पाला है, उसका ऐसा परिणाम आया, वह तनिक-सा भी सहनीय नहीं है । इसलिए इतना विलाप करना कुछ अधिक नहीं है । इसके अलावा कोई और होता तो वह तो सिर फोड़ लेता !

दोषित पर जिन की मति का सु-बोध :

फिर भी, जिनमति का क्रन्दन-कलपना हृदयद्रावक था । पर विशेषता यह थी कि वह विनयचन्द्र को ओछा नहीं बता रही थी, नीचा नहीं दिखा रही थी, 'नालायक ! इस मार्ग पर चल रहा है ? पापी ! अधर्मी ! हमारे किए - कराए को धूल समझता है ?....' आदि । न कोई गाली दे रही थी और न कोई उलाहना ! जिनमति है न ? जिन की मति को स्वयं की मति बनानेवाली जिनमति यह समझती थी कि

1. ऐसे अवसरों पर भी स्वयं के कर्म को ही मुख्य कारण के रूप में समझना चाहिए ।

2. यदि दोषी को सुधारना है तो उसके दिल को दाग़ने के बदले, उसके आगे अपने दिल के दर्द को रोकर बताने से अपनापन पैदा होता है ।

3. सामनेवाले का तिरस्कार - फिटकार करने से, पहले स्वयं के हृदय में अभिमान, द्वेष, कठोरता आदि का पोषण होता है ! इससे आन्तरिक शत्रु को मजबूत बनाया जाता है ! इस प्रकार के अनेकों प्रसंगों के कारण दिल कोमल होने के स्थान पर कठोर बनता जाता है । मोक्ष मार्ग की आधार शिला कठोरता नहीं, बल्कि कोमलता विकसित करने से सृजित होती है ।

यह जिन की मति अर्थात् जिन के सिद्धान्त हैं । इन्हें अपनानेवाली यह स्त्री ही वास्तविक जिनमति है, अत: वह फिटकार नहीं, बल्कि अपने हृदय को चीरकर अपने दिल का दुख प्रकट करती है ।

पत्नी से भ्रमित बन गए विनयचन्द्र पर भाभी के गहरे उद्वेग या रुदन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा । उल्टे, उसकी पत्नी ने उसे समझा दिया था कि 'यह सब तुम्हारे पुण्य से चल रहा है और उसका यश वह लोग ले जाते हैं ।' उस पर उसे अभिमान हो गया था । उसे भाई - भाभी मायाचारी लगने लगे थे, इसलिए वह भाभी के इस रोने को भी ढोंग समझ रहा था ।

कैसा विचित्र है यह संसार । वीनु पहले जिनके वचनों को तुरन्त स्वीकार लेता था, जिनके तनिक-से दु:ख में भारी दुखी हो जाता था, जिसे सगी माँ से भी बढ़कर नि:स्वार्थ हितैषिणी मानता था, उसी के शब्दों का वह अब तिरस्कार कर रहा था !

इस प्रकार के विश्व का विश्वास करना यह अज्ञान दशा है:

सज्ञान, सचेत दशा तो यह है कि ऐसे संसार में रहना पड़ता हो तो भी ऐसा गलत विश्वास न रखें, तभी, इस प्रकार के प्रसंग बनने पर हमें आश्चर्य नहीं होगा । मन कहेगा: 'इसमें कौन-सी नई बात है; यह

जगत् ऐसा ही है, और यहाँ ऐसा तो होता ही रहता है ।' खेद भी नहीं होगा, क्योंकि हम यह सोच-समझकर ही यहाँ रह रहे हैं ।

7. शुभ भाव कैसे बने रहें ?

अमीचन्द का उदार विभाजन : भाव कैसे बदल जाते हैं ? :

बहुत समझाने के बाद भी विनयचन्द्र मानने को तैयार नहीं हुआ । उसे तो विभाजन ही चाहिए था । मनुष्य का दिमाग कब बदल जाए, कौन जानता है ? उसके अनुमान के अनुसार सम्भव है कुछ न भी हुआ हो, फिर भी (1) उस भाव के शब्द सुनकर, या (2) देखने में कुछ फर्क के कारण, अथवा (3) सिर्फ जोश के प्रवाह में आ जाने से भी मन के भावों में बदलाव आ जाना सम्भव है । इससे सूचित होता है कि इस समय आपके मन में अच्छे विचार आ रहे हों, मगर उनके भरोसे नहीं रहना चाहिए कि 'ये शुभ भाव बने रहेंगे ! इसलिए अब हम चाहे जैसे चलें, घूमें, करें, मन में आए वह देखें, सुनें, जिस - तिस

के सम्पर्क में आएँ, तब भी कोई हर्ज नहीं है' ऐसे गलत विचारों में बहें नहीं।

भावनाएँ बहुत कोमल होती हैं, तनिक-सी ठेस लगते ही उन्हें टूटने में देर नहीं लगती।

विचार परिवर्तन के उदाहरण :

1- प्रवचन में अच्छी से अच्छी बात सुनने के बाद कोई दान, व्रत, तपस्या करने की भावना को लेकर घर आता है, मगर घर के लोग कुछ और ही बात बोलते हैं। उनकी बात सुनकर प्रभाव पड़ता है और शुभ भावनाएँ ठिकाने लग जाती हैं।

2- मन्दिर में प्रभुभक्ति करते-करते, शुभभाव जागते हैं, मगर बाहर निकलकर दुनिया के वातावरण में आकर लिप्त होते ही वह भावना पलट जाती है।

3- उच्च कोटि के वैराग्य भाव से साधु बने थे, बाद में भक्तों के संसर्ग में आते-आते राग, द्वेष एवं आगे चलकर काम-वासना तक पहुँच जाते हैं।

इन सब से ज्ञात होता है कि शुभभाव जागने के बाद भी वह ज्यों-का-त्यों सुरक्षित नहीं रह पाता है। यदि उसकी सुदृढ़ घेरेबन्दी करेंगे तभी वह टिकेगा; अन्यथा उसे उड़ते देर नहीं लगेगी।

शुभ भावों को टिकाए रखने के उपाय :

शुभ भावों की किलेबन्दी करने के बारे में पंचसूत्र, पंचाशक आदि शास्त्रों में अनेकों उपाय बतलाए गए हैं, जैसे कहा है :

1) शुभ भाव की स्वाभाविक सुन्दरता का विचार मन में बारबार लावें, उसे चित्त में गहराई से बसा लें, जैसे, 'अहिंसा, सत्य आदि का चित्त परिणाम कितना स्वाभाविक रूप से सुंदर है। इसके विपरीत हिंसा, असत्य आदि का मानसिक प्रभाव कितना हीन है !' ऐसा सोचें।

2) इस शुभभाव की परम्परा कितनी श्रेष्ठ है ! जैसे कि निःस्वार्थ शुभभाव से पुण्य बँधता है, फिर जब वह उदय में आता है तब सामग्री की अनुकूलता देकर, शुभ भावना को जगाने-बढ़ाने में निमित्त बनता है । इससे पुनः नया विशेष पुण्यानुबंधी पुण्य जाग्रत हो जाता है, ऐसा होते-होते वीतरागता तक पहुँचने की समस्त सामग्री और शक्ति मिल जाती है ! यह एक श्रेष्ठ परम्परा हुई ।

फिर, शुभभाव के संस्करण भी होते रहते हैं । वे संस्कार आगे जाकर नए-नए शुभभावों को प्रेरित करते हैं । शालिभद्र के जीव ने पूर्व भव में चरवाहे के लड़के के रूप में भले ही एक बार खीर का त्याग किया हो, परन्तु उससे ऊँचे शुभभाव बनायें ! एवं एक ही बार गुरुयोग में गुरु के प्रति स्वयं को बहुत उपकृत मानने की बुद्धि विकसित की ! तो इन दो शुभ भावनाओं ने अगली परम्परा में शालिभद्र के अवतार में देवताओं को उपलब्ध ऐसे निन्यानवे पेटी जैसे वैभव का त्याग का भाव ला दिये । तथा 'स्वामी श्रेणिक नहीं, स्वामी तो एक ही हैं, गुरु महावीर स्वामी' ऐसा भाव आने में फिर देर नहीं लगी ! इस प्रकार से शुभ भावों की परम्परा कितनी सुन्दर है, उसका बार बार चिन्तन करके दिल को उससे लिप्त बनाए रखें ।

3) शुभभाव किस प्रकार से स्वयं के एवं पर के लिए उपकारी हैं, इसका चिन्तन करते रहें । अहिंसा का भाव, सत्य का भाव, क्षमा का भाव, त्याग - तपस्या का भाव, ये सभी स्व एवं पर; दोनों के लिए उपकारी हैं । जगत् के जीवों में ये भाव प्रवर्तित रहते हों तो कोई अनर्थ, झगड़ा, क्लेश आदि नहीं रहेंगे । अकल्याण भी नहीं होगा - ऐसी स्व-पर उपकारिता के बारे में चिन्तन करते रहें ।

4) शुभ भावना के संरक्षण के लिए शुभ आयतन का सेवन रखें । आयतन याने स्थान । शुभभाव का संरक्षण करे, विस्तार दे, ऐसे सत्संग, धर्म स्थान, तीर्थ यात्रा, सद्ग्रन्थ वाचन आदि का सेवन करते रहें ।

5) इसी प्रकार से अनायतनों - अर्थात् शुभभावके घातक,

शुभभावों को बिगाड़नेवाले स्थानों से बहुत सावधान रहें, उनका त्याग करें । सदाचारी द्वारा वेश्या की गली में से गुज़रना भी नहीं होना चाहिए । दयालु को कसाइयों के मोहल्ले से भी नहीं जाना चाहिए । अच्छे व्यक्ति को जुआरियों, व्यसनियों के साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए । त्यागी - तपस्वियों को मेवा - मिठाई के रसोई घर में बहुत नहीं जाना चाहिए । शान्तिप्रिय व्यक्ति को कलह देखने को खड़ा नहीं होना चाहिए । ये सभी अनायतन (अपवित्र स्थान) कहलाते हैं । इनसे भव बिगड़ता है । ऐसे ही गंदे, विलासी, नास्तिकता भरे लेख, कथा, पुस्तक भी नहीं पढ़ने चाहिए ।

6) शुभभाव को टिकाए रखने के लिए यह भी सोचना चाहिए कि हिंसा आदि अशुभ भावों में कितनी भयानकता छिपी है । शुभ - अशुभ भावों की पहचान होने पर भी शुभभावों के प्रति लापरवाह होकर जाने-अनजाने अशुभ भावों में रमण करने में आत्मा धीठ बनती है ! इससे जीव भविष्य में शुभभावों को पाने की योग्यता गँवा बैठता है । और यह कितनी बड़ी हानि है ! इस पर गम्भीरता से विचार करें । इसे ध्यान से, ठीक से याद रखें कि शुभभावों को विकसित करने के लिए मनुष्य जीवन जैसा अन्य कोई अवसर नहीं है । यहाँ, मानव भव में भी जैन शासन के समान अन्य कोई मौका नहीं है । इतना उत्तम अवसर मिलने पर भी हृदय को अशुभ भावों से मलिन करना तो इस सुन्दर अवसर के प्रति लापरवाह होना है । फिर से ऐसा अवसर पाने की योग्यता भी हम इससे गँवा बैठते हैं । हृदय के भावों को बिगाड़कर भला क्या कमा लोगे ? क्या सुधरेगा ? कुछ भी नहीं । फिर ऐसी मूर्खता क्यों करें ?

बस, इन्हीं सब विचारों पर चिन्तन करके, हर प्रकार से, अशुभ विचारों से बचना चाहिए । उन्हें दूर करना ही योग्य है । फिर शुभ भावों को जगाकर, उन्हें सावधानी से पाल-पोसकर रखें । वे एक बार जाग गए हैं, फिर भी ऐसा भरोसा नहीं रखें कि वे बने ही रहेंगे ।

विनयचन्द्र के मनोभाव पलट गए ! या यों कहो कि पत्नी के

मुँह से बार बार ओछे शब्द सुनकर, उन पर एक तरफा विचार करके खुद ही ने भाव बिगाड़ दिये । अब भाभी के रोने-कलपने का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं हो रहा है ।

अमीचन्द का उत्तर :

अमीचन्द कहता है: 'देखो भाई ! तुम्हारे दिल को जो भाए, हमें उसी प्रकार से सब करना है । तुम्हारा यह अन्तिम निर्णय हो तो कोई बात नहीं है; पर हमें बीच में किसी निर्णायक को रखने की जरूरत नहीं है । हम दोनों ही समझ लेंगे; और तुम पर अन्याय नहीं हो, ऐसा करेंगे । तुम तनिक-सी भी चिन्ता मत करो । बताओ, कब हिस्सा बाँटना है ? कहो तो अभी कर लें ।'

अमीचन्द की एक ही दृष्टि थी कि माता को जो वचन दिया था उसके अनुसार छोटे भाई को प्रसन्न रखना है । फिर उसमें वैभव आदि गँवाना पड़े तो भी चिन्ता की बात नहीं है । दृष्टि में माँ के वचनों को पालने का अमृत घुला था इसलिए बड़ा त्याग करना भी उसे कम लग रहा था ।

यह भी नज़रों का एक बड़ा अमृत है कि दृष्टि में, कर्तव्य-पालन करने की खातिर बड़ा भोग देना भी तुच्छ लगे ।

इसके विपरीत, पैसे को मूल्यवान समझकर कर्तव्य-पालन, कृतज्ञता, सेवा आदि को नगण्य मानना ही ज़हरीली नज़र है ।

विनयचन्द्र कहता है: 'यदि आप अभी करना चाहते हैं तो अभी, अन्यथा बाद में भी करेंगे तो चलेगा ।'

अमीचन्द देखते हैं कि यदि उसे जल्दी पड़ी हुई है तो फिर क्यों न अभी ही सब निबटा दें । देर करने से उसे क्लेश होगा, ऐसा क्यों करूँ ? उसने एक ही नियम बना रखा था कि छोटे भाई को प्रसन्न रखना । उसकी नज़रों में विनयचन्द्र की खुशी मूल्यवान थी, स्वयं को भोग देना पड़े, वह मामूली बात थी । इस अमृतमयी दृष्टि से उसने झट

से तारा को बुलाया और कहा -

अमीचन्द की उदारता :

'देखो, हमारे दो घर हैं और दो दुकानें भी हैं, इनमें से कौन-सा तुम रखना चाहोगे ? जो पसन्द हो वह घर और दुकान खुशी खुशी ले लो ।'

विनयचन्द्र ने तारा के साथ सलाह की और बड़ा घर तथा मौके की दुकान माँग ली । भाई-भाभी ने जरा-सा भी संकोच या आना-कानी किए बिना स्वीकार कर लिया ।

फिर, वहीं पर सारे गहने मँगवाकर अमीचन्द ने कहा: 'इनमें से जो जो तुम्हें पसन्द हों वे खुशी से रख लो ।'

इस पर विनयचन्द्र विवेकी बनकर कहता है: 'पर इनका कोई माप-तौल नहीं करना है ?' अमीचन्द कहता है: 'किस लिए ? जो तुम्हें पसन्द हो, वह ले लो । हमें खुशी होगी ।'

वे दोनों लोभी बने थे, और उन्हें यहाँ मौका मिला था, फिर वे क्यों उसे गँवाते ? आधा हिस्सा नहीं, उससे कहीं ज्यादा जो जो अच्छा लगा वह सब अलग निकाल लिया !

ऐसा ही घर के बर्तनों- भाँडों, गद्दों तकियों, घर की चीज़ों वस्तुओं में से पसन्द करने को भाई-भाभी ने बैठे-बैठे कह दिया और उन दोनों ने हिस्से और उसके अनुपात का ध्यान रखे बिना, लुटेरों की तरह से जो भी पसन्द आया, वह अच्छा अच्छा ले लिया ।

8. सबकी जड़ है ज़हरीली दृष्टि

लोभ कितना अविवेकी, ना-समझ, अन्यायी बना देता है ! नज़रों में बसा यह एक विष, 'अच्छा-अच्छा सब कुछ मुझे चाहिए,' यह अनेक दोषों को सेवन कराता है ! ढीठ बना देता है ! मानवता को भुलाकर दुष्कर्मों को पैदा करता है ! विनयचन्द्र ने पत्नी के सिखाने से भाई के प्रति स्वयं की नज़रों में ज़हर भर लिया है; इसलिए कितना कुछ अनुचित कर रहा है !

दृष्टि के बिगड़ने से आचरण बिगड़ता है :

दृष्टि के बिगड़ जाने पर असद् व्यवहार होने लगते हैं ! असद् आचरण ऐसे ही थोड़े न होते हैं ? पहले दृष्टि बिगड़ती है । दुनिया में

बिगाड़ने वाले तत्त्व अनेकों हैं । वे दृष्टि को ज़हरीला बनाते हैं; इसलिए तो कहा गया है, " जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि " ! जीव दृष्टि के अनुसार ही प्रवृत्तियाँ करने को दौड़ता है । दृष्टि के अनुसार ही सृष्टि रचता है ।

पहले दृष्टि को सुधारो :

इसीलिए यदि जड़ से ही हम अपनी दृष्टि को सुधार लें तो प्रवृत्तियाँ स्वयमेव सुधर जाती हैं । महात्मा उपदेश एवं तत्त्व की समझ इसीलिए देते हैं कि भव्य आत्माएँ स्वयं की दृष्टि को सुधार लें । मोक्षमार्ग में पहले जो सम्यग् दर्शन कहा गया है, वह भला क्या है ? दर्शन याने दृष्टि, सम्यग् अर्थात् अच्छी । बुरी दृष्टि को सुधारकर अच्छी बना देना । पंचसूत्र में जो साधना की प्रक्रिया बतलाई है, उसमें भी पहले अरिहंत आदि चार की शरण स्वीकारने को कहा है, वह भी दृष्टि सुधारने की ही बात है । जीव आज तक शरण-रक्षण देने में असमर्थ वस्तु को ही रक्षणहार मानता आया है, उसी प्रकार से, पाप-दुष्कृत्यों को कर्तव्य मानता आया है एवं सुकृत्यों से घृणा करता आया है । अब, अरिहंत आदि को सच्चा रक्षणहार मानकर उनकी शरण लेकर, दृष्टि सुधारकर दुष्कृत्यों के प्रति घृणा एवं सुकृत्यों के प्रति आकर्षित होना चाहिये । इस से सच्ची दुष्कृतगर्हा और सुकृत की अनुमोदना होगी और बाद में व्रत स्वीकार आदि होगा । पहले दृष्टि को सुधारना चाहिए ।

'मुझे अच्छा अच्छा सभी कुछ चाहिए' ऐसी दृष्टि बँधने के बाद वह कितने सारे पाप खड़े कर देती है !' 'यहाँ बड़े भाई-भाभी हैं, पाल-पोसकर जिन्होंने महान् उपकार किए हैं, उनको तो मुझे कुछ अपना लाकर देना चाहिए ? या उनको लूट लेना चाहिए ? ऐसा कोई भी विचार विनयचन्द्र को नहीं सूझता ! उसने सभी कुछ अच्छा अच्छा ले लिया । स्वार्थकुशल मनुष्य जब इस प्रकार से प्रसन्न रहते हैं, तो उदार मानव त्याग करके, क्षमा करके प्रसन्न रहते हैं । इसका कारण है उनकी अमृत-भरी दृष्टि ऐसी होती है कि 'अपना दूसरों के काम आना चाहिए । हमारे व्यवहार से सामनेवाले को खुशी मिलनी चाहिए ।'

छठी अमृत दृष्टि : सामनेवाले की अनुकूलता देखें :

दोनों भाइयों में उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के समान अन्तर है। जहर भरी दृष्टिवाला 'स्वयं को अच्छा मिले और खुद खुश रहे' ऐसा लक्ष्य बना लेता है। सामनेवाले को चाहे-जैसा मिले, वह खुश होवे या नहीं, इसकी उसे परवाह नहीं है। जबकि अमृतमयी दृष्टिवाला, स्वयं के स्थान पर सामनेवाले की अनुकूलता-प्रसन्नता बनाए रखने का लक्ष्य लेकर कार्य करता है। और उसका असर जीवन की अनेकों प्रवृत्तियों पर पड़ता है। एक की दृष्टि ज़हरभरी है और दूसरे की अमृतमय !

विषाक्त दृष्टिवाला सम्भव है देव-गुरु की पूजा भी करे, मगर वहाँ भी वह हिसाब रखेगा कि 'मुझे इनकी ओर से भी अच्छा अच्छा मिले और मैं सुखी होऊँ।' वह यह नहीं देखेगा कि 'मैं योगदान देकर भी पहले इनकी अनुकूलता का ध्यान रखूँ।' दिखता ही है कि जल्दी से वालाकुंची लगाकर झटपट भगवान को साफ करके भगवान् की पूजा निपटा लूँ ! इस तरह से उपाश्रय में भी गुरु चाहे जितनी जल्दी में, व्यग्र खड़े हों, उनसे शीघ्रता से 'स्वामी शाता' करके निबटाना लूँ; क्या है यह ? सामनेवाले की अनुकूलता की कोई परवाह नहीं है, कहीं दूसरा फेरा न करना पड़े, या देर न हो जाए, इसलिए मैं तो निबटा लूँ।

सिर्फ स्वयं की सहूलियत को देखना और सामनेवाले की प्रतिकूलता की परवाह नहीं करना, यही विषाक्त दृष्टि है।

यदि सोचने के लिए हृदय होगा तो इस मामूली-सी लगती, नगण्य प्रवृत्ति पर से अपनी दृष्टि को मापा जा सकता है। यदि दृष्टि ही मलिन है, जहरीली है, तो वह कषायों का वर्चस्व है। फिर हम अन्य चाहे जितने धार्मिक कष्ट-तप करते रहें, अथवा बड़े बड़े शास्त्र पढ़ते रहें, परन्तु गुण-स्थानक में ऊपरी पायदान नहीं चढ़ पाएँगे। आत्मा इस भुलावे में ही रह जाएगी कि 'मैं धर्म कर रहा हूँ, देव-गुरु की भक्ति करता हूँ; मैं सुखी बनूँगा, मेरी आत्मा का सुधार हो रहा है...' मगर यह भ्रम ही रहेगा। क्योंकि वहाँ देव और गुरु के सामने भी स्वयं की सुविधा संभाली जाती है, उनकी अनुकूलता, उनका गौरव, उनकी

प्रसन्नता नहीं देखी जाती, और फिर भले ही उसमें क्रिया की पद्धति चूक जाए, अविधि-अशातना हो, अविनय हो जाए, अवगणना होवे, - इन सबको अनदेखा कर दिया जाता है । जैसे, 'पूजा को जल्दी निबटाना है इसलिए बड़े कपड़े से कल का बासी केशर कौन पोंछने बैठे ? निबटा दो उसे झट से वालाकुंची से, प्रभु को खोद-खोद करके ! घर का दूध, चन्दन, केशर,अगरबत्ती आदि कौन लाने बैठे ? मन्दिर की ही सामग्री से कर दो न पूजा ! फिर भले ही हमारी इस सुविधा को मन्दिर सँभाले । इसमें भले ही देव-द्रव्य का खर्च हो या उधार चढ़े, या भगवान् की भक्ति में किसी और प्रकार से कमी रह जाए... !' ऐसी दुर्दशा है ।

दुनिया के सामान्य मनुष्यों के प्रति भी इस प्रकार का विवेक भरा व्यवहार करना चाहिए कि अपना स्वार्थ पूरा करने में औरों को कष्ट न हो, वे तकलीफ न उठाएँ; तो फिर महापूज्य महा उपकारी देव एवं गुरु के प्रति सिर्फ अपने ही स्वार्थ का विचार और देव-गुरु की अनुकूलता के बारे में सोचना भी नहीं, यह कितनी अधिक जघन्य वृत्ति है ! ऐसी अधम वृत्ति कि 'मुझे सब कुछ अनुकूल चाहिए, मैं प्रसन्न रहूँ, याने बस !' यह विषाक्त दृष्टि वाले का चोंचला है । देव और गुरु के प्रति भी जो ऐसा व्यवहार रखता है, तो फिर माँ-बाप,साधर्मिक आदि के प्रति तो पूछना ही क्या ? उनकी प्रतिकूलता, कष्ट, अप्रसन्नता उत्पन्न करके भी स्वयं की सुविधा को बचाए रखना और स्वयं की मनमानी होने पर प्रसन्न होना, कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी ।

निर्दोष प्रवृत्तियों में भी सावधानी रखना :

जहाँ स्वयं के स्वार्थ के लिए दूसरों की तकलीफों पर ध्यान नहीं जाता है, स्वयं के कार्यों से दूसरों को कष्ट होंगे इसका खयाल नहीं है, लापरवाही और निष्ठुरता है, वहाँ हृदय में भला धर्म कैसे आ सकता होगा या रह सकता होगा ? शास्त्रों में साधुओं को निष्पाप अनुष्ठानों में भी कदम-कदम पर इस दृष्टि को बनाए रखने को कहा है

कि, 'दूसरों को अप्रिय न बना जाय, औरों को कष्ट न हो, उनकी धार्मिक आस्थाओं से टकराहट न हो, वे कोई शासन-मालिन्य न कर बैठें ! शासन हीलना का निमित्त पाकर बिचारे इस पाप के द्वारा दुर्लभबोधि न बनें !'

साधुओं को भी इस विचार को सर्वोपरि रखना चाहिए : 'अपनी निर्दोष चर्या भी दूसरों को दुःख या पाप की ओर घसीटकर ले जाए, ऐसी नहीं रहनी चाहिए।'

माँ-बाप का सन्तान को संस्कारित करना - दृष्टि के विष को कैसे रोकें ?

दृष्टि का ज़हर सहज, ऐसे ही, पैदा नहीं हो जाता है। पुराने संस्कार तथा बचपन से उन्हें पाला जाना, ये दोनों इसकी वृद्धि में प्रमुख हिस्सा लेते हैं। कलंकित पूर्व संस्कारों को भग्न करने के लिए सत्संग, श्रेष्ठ वाचन, श्रवण आदि आवश्यक होते हैं। और बचपन में बुरी आदतें न पड़ें, इसका ध्यान तो माँ-बाप आदि को ही रखना पड़ेगा। यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो बालक बड़ा होने के बाद दूसरों के सामने तो बाद में, पहले तो वह माँ-बाप के सामने ही स्वार्थान्ध बनेगा ! 'उनका चाहे जो हो, मुझे अपनी वस्तुएँ ठीक से सँभालनी चाहिए। माँ मेरी पत्नी को उलाहना देती है। इसलिए, मुझे तो अलग रहना है, फिर भले ही उन्हें तकलीफ हो।' ऐसा ही कुछ सामने आकर खड़ा हो जाएगा।

संस्करण कैसे कर सकते हैं ? :

इसके लिए बचपन से ही अच्छे संस्कार देने चाहिए, अच्छी शिक्षा देनी चाहिए, प्रयोगात्मक ज्ञान देना पड़ेगा। अवसर देखकर युग-युग से चले आ रहे विष को उगलकर, सन्तान के दिल में अमृत को भरनेवाली निवृत्ति-प्रवृत्तियों, त्याग भावनाओं को बसाना पड़ेगा। जैसे, माता को यदि दिखता है कि पुत्र भाई-बहन को भूलकर स्वयं की स्वार्थ-अनुकूलता को ही पहले देखता है, तो उसे रोकना यह है निवृत्ति; एवं भाई बहन के हितों की रक्षा पहले करे - ऐसा कराना यह

है प्रवृत्ति । वह इस प्रकार से होती है, जैसे -

लड़के के खाने में मिठाई रखने पर वह तत्काल खाने लगता है, तो पिता को सिखाना चाहिए, पूछना चाहिए कि 'ठहरो, क्या तुमने अपनी माँ से पूछा कि 'माँ ! मेरे लिए तो तुम मिठाई रख रही हो, पर क्या उसे तुमने अपने लिए बचाया है ? यदि नहीं रखी हो, तो लो, इसे अपने लिए ही रखो ।' अथवा 'इसमें से आधी अपने लिए रखो ।' इस प्रकार से भाई-बहन के लिए सिखाना चाहिए; बार बार इस या दूसरे अन्य गुणों के बारे में शिक्षा देनी चाहिए, तभी बालक में अच्छे संस्कार आएँगे, नहीं तो वह स्वार्थी और अकेला पेटभरू रह जाएगा । इस प्रकार से देव-गुरु की भक्ति का सक्रिय प्रयोग कराया जाय, तो वह धर्मात्मा बनेगा, नहीं तो पापी, स्वार्थलंपट बनेगा, दृष्टि जहरीली बनेगी ।

अमृतमय दृष्टि घड़ने के लिए, स्वयं के स्वार्थ को दूर रखकर (1) दूसरों के अनुकूल, हितकर कार्य करें, (2) दूसरों को शाता दें, (3) दूसरों को कष्ट न हो, इस बात का विशेष ध्यान रखें, (4) उन्हें प्रसन्न रखें; इसका प्रयोग रचनात्मक रूप से बार बार करें । ऐसा करते-करते यदि इस प्रकार की अमृत-दृष्टि बन जाए, तो वह दैवी पुरुष होता है । माँ-बाप बनकर बच्चों की दृष्टि का इस प्रकार से निर्माण करने से, उनके वर्तमान जीवन को और परलोक को भी उज्ज्वलित करने का सुन्दर उपकार होगा । उनकी दृष्टि ही ऐसी बँध जाए कि जीवन तो गुणों से सुवासित ही होना चाहिए ।

जब बच्चे को यह सिखाना हो तो स्वयं को तो ऐसी अमृतमयी दृष्टि रखनी ही चाहिए और पुनः पुनः इसके अनुरूप प्रवृत्ति करनी चाहिए । दूसरों को सँभालने में स्वार्थ का बलिदान देकर, दूसरों को प्रसन्न रखने में स्वयं कष्ट सहनकर खुश रहना चाहिए । 'सभी कुछ अच्छा-अच्छा मुझे चाहिए' यह नहीं, किन्तु 'दूसरों को पहले सँभालना चाहिए' ऐसी अमृत भरी दृष्टि को यदि मज़बूती से पकड़े रखा हो, तो फिर उस दृष्टि के अनुरूप प्रवृत्तियाँ करना कठिन नहीं रह जाता है ।

9. अमीचन्द का पतन

अमीचन्द और उनकी पत्नी जिनमति अमृतमय दृष्टिवाले थे; इसलिए वे विनयचन्द्र की लूट पर तनिक भी नाराज़ नहीं होते हैं ! उल्टे प्रसन्न होते हैं कि ऐसा करने से छोटा भाई खुश रहता है न ? इससे मृत्यु शैया पर पड़ी माता को दिए विश्वास का पालन हो रहा है न ?

बस, विनयचन्द्र और उसकी पत्नी तारा ने मनमाना धनमाल हड़प लिया । बाकी बचा हुआ सामान लेकर अमीचन्द अपनी पत्नी जिनमति के साथ इस घर को छोड़कर थोड़ी दूर, छोटे सामान्य घर में रहने चले गए । मौके की दुकान का भी हिसाब निबटाकर उसे भी छोटे भाई को सौंप दिया ।

लोगों को आश्चर्य हुआ कि 'अरे ! यह क्या ? ऐसे, माँ-बाप से सवाए (अच्छे) अमीचन्द और जिनमति को निकाल बाहर किया ? होता है भाई ! होता है, शहर की पढ़ी-लिखी-पाली-पोसी नई रानी साहिबा श्रीमती ताराबेन पधारी हैं न ! इसलिए ऐसा ही होगा, इसमें नई बात कौन-सी है । जिनमति बेचारी गाँव की भोली-भाली स्त्री है ! उसे क्या यह-सब आएगा ?...' लोगों का प्रवाद फैला ।

तारा का खेल : अमीचन्द पर आरोप :

अब लोग अमीचन्द की तरफदारी करके बोल रहे हैं, यह भी तारा से सहन नहीं हुआ इसलिए विनयचन्द्र के सामने गुहार लगाई, 'देखो, यह तुम्हारे भाई-भाभी कितने चालाक हैं ! लोगों को किस प्रकार से उल्टा-सीधा समझा रहे हैं, इसलिए लोग हमारी ही निन्दा कर रहे हैं !'

विनयचन्द्र भाई के प्रति रहा-सहा आदर बचाने के लिए प्रेरित होता है, 'इसमें भाई भाभी क्या करें ? यह तो लोगों का स्वभाव ही ऐसा होता है । आज एक की ओर बोलेंगे, तो कल दूसरे की ओर !'

वह कहती है, 'आप अब भी भोले ही हैं ! अब तक भाई को नहीं पहचान पाए ?'

'क्यों, पहचान तो लिया है, तभी न हमें वह सब लेने दिया, जितना हम लेना चाहते थे' विनयचन्द्र ने कहा ।

तारा बोली: 'अगर नहीं लेने देते, तो कहाँ जाते ? पुरखों की सम्पत्ति का हिस्सा तो देना ही पड़ता है ।'

'मगर अधिक लेने दिया, वह ?'

तारा दीनता दिखाकर कहती है, 'बस, तुम्हें तो अपना भाई ही प्यारा है इसीलिए उसका ही पक्ष लेते हो । मैं प्यारी नहीं हूँ, मेरी क्या कीमत है ? मेरी तो सारी बातें झूठी हैं । अरे, यह तो देखो कि क्या कोई इस युग में, कभी ज्यादा लेने देगा ? यह तो चुपचाप, एकान्त में

उन्होंने दबाकर रखा होगा, इसलिए यश लेने के लिए कहा: 'लो भाई, तुम्हें जो चाहिए, वह ले लो ।'

पत्नी के रुँआसे चेहरे को देखकर विनयचन्द्र बोला: 'अच्छा ? यह बात है ?'

वह झूठ को आगे बढ़ाती है: 'और क्या ? आपको मुझ पर विश्वास कहाँ है ? मैंने अपने सगे कानों से आपके भाई-भाभी का गुप्त वार्तालाप सुना है, मगर मैं यदि उस समय आपको बतलाती तो आप मेरी बात मानते ही कहाँ ?'

यह कहता है: 'होगा, उन्हें जो अच्छा लगा, वह ठीक ।'

'यह तो ठीक; मगर मुझसे इन लोगों के बोल नहीं सहे जाते । मुझे कौन-से दिन देखने पड़ रहे हैं !...' ऐसा कहकर वह रोने बैठ गई ।

विनयचन्द्र प्रिया को रोते देखकर स्वयं भी रुँआसा होकर कहता है: 'पर अब क्या करें ?'

तारा सरासर झूठी बातें हाँकती है :

'क्या करें ? आपको क्या बचाव और प्रचार करना नहीं आता है कि 'पर क्या करें, हम बड़े हो गए इसलिए अब हम उन्हें काँटे की भाँति लगने लगे ! हम तो अभी उनकी बहुत सेवा करना चाहते थे, पर साथ में रहने दें, तब न । उन्हें लगा वीनू अवश्य बड़ा हिस्सा माँगेगा ! उन्हें तो छिपकर धन जमा करना था । लोगों को दिखाने के लिए उन्होंने हमें अच्छा अच्छा दिया है, पर मन ही जानता है कि अन्दर की बात क्या है ? यह कर्ज चढ़ा हुआ बड़ा घर, और जन्मभर में भी न चुक सके ऐसी लम्बी देनदारीवाली दुकान हमारे हिस्से चिपका दी...' क्या आपसे बाहरी लोगों से यह बतलाते नहीं बनता ?

तारा ने पति को चढ़ा दिया ! वह भी रोकर, गिड़गिड़ाकर । विनयचन्द्र स्त्री चरित्र में उलझ गया । अब उसने भी महा उपकारी भाई भाभी के बारे में झूठी, हीन बातें बोलना शुरु कर दिया, निन्दा करने

लगा । यदि सामने से कोई भाई का बचाव करनेवाला आता तो वह अपना रोष भाई पर उतारता: 'भाई ने बड़े लोगों को कैसा भ्रमित करके रखा है !'

ईर्ष्या-द्वेष कितने खतरनाक दोष हैं कि वह जिसके प्रति होता है, उसकी लोग ज्यों-ज्यों प्रशंसा करते हैं, त्यों-त्यों उसके प्रति द्वेष बढ़ता जाता है । इसीलिए विचारणीय है कि यदि हमने मन में किसी के प्रति द्वेष बसा लिया, अरुचि-ईर्ष्या पैदा कर ली, तो फिर उसमें से छूटेंगे कब ? और क्या उसकी बढ़ती को रोका जा सकता है ? यहाँ यदि हमें अपना इच्छित फल नहीं मिलता है तो, वह तो अपने पूर्व कर्मों का हिसाब-किताब है । परन्तु इस द्वेष को पैदा करके और बढ़ाकर, अपने ही हृदय को स्वयं अपने ही हाथों बिगाड़ते जाते हैं ! और कितने ही पाप पुंज को भी जमा करते जाते हैं !' मगर इन छोटे भाई-भाभी में इस प्रकार से सोचनेवाला हृदय कहाँ है ? कितनी मूर्खता है !

विनयचन्द्र, अब बड़े भाई-भाभी के प्रति द्वेष का मारा, चारों ओर निन्दा करता फिर रहा है, पत्नी का पढ़ाया बनावटी नकली बातें बाहर बोल रहा है । दृष्टि में ज़हर भर जाने के बाद, पाप से कैसे बच पाएगा ?

अमीचन्द की शीतल दृष्टि - सामनेवाले की दुष्टता पर हमारे कर्म खप जाते हैं (क्षय हो जाते हैं)

अमीचन्द एवं उनकी पत्नी अमृत-दृष्टिवाले हैं । इसलिए उनके सामने जो भी कोई उनके छोटे भाई के बारे में हल्की बात बोलने जाता है, तो वे उसे तुरन्त रोक देते हैं, कहते हैं: 'ऐसा वह बोल / कर नहीं सकता । आपके समझने का फेर है ।'

'मगर हम तो उनके शब्दों को ही, शब्दशः दोहरा रहे हैं ।'

'मगर शब्द के भाव को समझे बिना मन में किसीके प्रति कोई धारणा बना लेना व्यर्थ है । सच तो यह है कि उसने हमारे सारे भार को उठाकर हमें बहुत बड़ी राहत दी है ।'

अमीचन्द के उत्तम विचार :

अमीचन्द मन ही मन समझ रहा है कि इस निमित्त से हमारे अशुभ कर्मों को हम भोग लेंगे । इसमें बुरा क्या है ? हमें तो लाभ ही हो रहा है । यों भी कर्मों को तो भोगना ही था, उसके बिना वे सरकने (= टलने) वाले तो थे नहीं; वे यहीं भोग लिए जाएँ तो अच्छा है ।'

कर्म की सत्ता अटल है, टालने से टलनेवाली नहीं है, अपना काम तो वह करेगी ही । वह भी इस हद तक कि हम एकाध बार महा गुणवान भी बन गए, तब भी उन पूर्व कर्मों के पकने पर वे अपना प्रभाव दिखाए बिना नहीं रहते ।' देखो न, महासती सीताजी कैसी गुणवान थीं ! फिर भी कर्मों ने उन पर बरसाने में कुछ बाकी नहीं रखा । स्वयं भगवान् महावीर, वीतरागसर्वज्ञ तीर्थंकर बन गए, उसके बाद भी कर्मों ने गोशाले को ऊपर किया और भगवान् पर तेजोलेश्या रखवा दी ! कर्म, तेरी गति न्यारी !

अमीचन्द को हानि :

यहाँ भी ऐसा ही होता है कि अमीचन्द को छोटी दुकान माफिक नहीं आती । दिन पर दिन उसमें नुकसान होने लगा, क्योंकि ग्राहक कोई माल माँगते जो वहाँ नहीं होता था, तो पहले तो वह बड़ी दुकान से आ जाता था और ग्राहक सन्तुष्ट हो जाता था; मगर अब, वह बात तो रही नहीं, इसलिए ग्राहक को इन्कार करना पड़ता था, इससे ग्राहक को यदि दूसरा सामान भी लेना होता जो वहाँ होता, तब भी वह मन को मनाकर चला जाता कि इसे भी अन्य माल के साथ कहीं और से ले लेंगे, जिससे एक साथ कमीशन मिल जाएगा ! इस प्रकार से ग्राहकी टूटने लगी ।

दूसरी ओर बेईमान बना हुआ विनयचन्द्र भाव कुछ कम बता-बताकर यहाँ के रहे-सहे ग्राहकों को खींचता गया । वैसे भी, छोटी दुकान के लिए छोटी खरीदी करने में भाव अधिक देना पड़ता था । इसलिए उसे इतने सस्ते में नहीं बेचा जा सकता था । देखना, यहाँ छोटे

भाई पर आप द्वेष मत करना, दया करना, क्योंकि वास्तव में तो अमीचन्द के दुर्भाग्य का उदय हो चुका था, अतः परिस्थितियाँ ही ऐसी हो रही थीं कि कमाई के बदले उसे नुकसान होता गया ! अमीचन्द भी इसे समझकर भाई पर द्वेष नहीं करता है तो कर्मबन्ध से बचता है । इसलिए हमें भी समझ-बूझकर छोटे भाई पर द्वेष नहीं करना चाहिए, नहीं तो यथार्थ में कष्ट भोगनेवाले तो अपने विवेक के कारण बच ही जाएँगे, पर हम तो उनके कष्ट के बारे में सुननेवाले अविवेक एवं द्वेष के कारण कर्मबन्ध करनेवाले बन जाएँगे ।

अब देखो, अमीचन्द के पतन से उल्टा, विनयचन्द्र के भाग्य का सितारा और अधिक चमक गया और उसे व्यवसाय और अधिक रास आता गया । अलग होने के बाद से उसने बड़े भाई के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखा; मिलने जितना भी नहीं ! रास्ते पर जाते हुए यदि सामने से भाई आता दिखता तो वह दूसरी ओर चला जाता और मिलना टाल देता । मन ही मन में इतना अधिक अजनबीपन पैदा कर लिया है । अमीचन्द ने आरम्भ में तो 'भाई ! बात क्या है, दिखता नहीं है ?' इस चिन्ता से उसके घर जाकर पूछ आता था, मगर जब उसने इसका कोई आदर नहीं किया और ठीक से बात नहीं की, तो अमीचन्द ने भी मिलने जाना बन्द कर दिया ।

10. बेकदर संसार

पहले विनयचन्द्र बड़े भाई को पिता-जैसा मानता था । आज उसे दुश्मन की नज़रों से देखता है; कैसी विचित्र परिस्थिति है ! स्वयं बड़े भाई के अगाध उपकारों के नीचे दबा होने पर भी, मानों वैसा कुछ कभी बना ही न हो, इस प्रकार से वह जीवन जी रहा है ! इसी कारण से ज्ञानी महात्माओं ने संसार को असार कहा है । संसार उसी का नाम है जहाँ कद्र न हो, दगा हो । फिर भले ही वह धोखा समय के अनुसार आगे-पीछे होवे । वैसे ही, उसकी रीति में भी बदलाव हो सकता है, पर होता अवश्य है । मनुष्य सभी कुछ छोड़कर चला जाता है, क्या है यह ? जिन सगे-सम्बन्धियों को सँभालने के लिए उसने जीवन भर धक्के खाए और परिश्रम किया, वे अब उसे मृत्यु के बाद, सँभालने को तैयार

नहीं हैं । यह बेकद्रदानी नहीं है, तो और क्या है ? जीव नादान है, बेअक्ल है इसलिए वह बेकद्र संसार के पीछे अपना मूल्यवान मानव जीवन बर्बाद कर देता है ! और अपनी आत्मा का हित नहीं देखता, नहीं करता । इस प्रकार से वह फिर से, बार बार जन्म के चक्कर में पड़ जाता है ! वे जन्म भी ऐसे, जिनमें फिर से बेकद्र संसार ही मिलता है ! और इससे बढ़कर अनर्थ यह है कि समझने और सयाना बनने के जो संयोग मिले थे, वे पुन: नहीं मिलते ! फिर वहाँ आत्मा पर दृष्टि कैसे जाए ? और आत्महित का विचार भी कैसे होगा ? वहाँ पर तो, 'संसार कदरदान नहीं है' ऐसे शब्द भी सुनने को मुश्किल से मिलते हैं । और स्वयं ऐसी बात सूझे, वह तो और भी कठिन है !

पत्नी की डींग :

विनयचन्द्र एकदम बेकद्र हो गया है । उसकी पत्नी बाहर से सुनकर आई है कि 'अमीचन्द की आर्थिक परिस्थिति बिगड़ती जा रही है' इसलिए वह विनयचन्द्र से कहती है:

'सुना क्या ? ये तुम्हारे भाई अब पैसे-पैसे के लिए मोहताज होते जा रहे हैं ।'

विनयचन्द्र कहते हैं: 'हाँ, मुझे भी जानने को मिला है ।'

वह खबर लेती है: 'जाना; यह तो ठीक, पर उसका कोई मतलब निकाला ?'

'मतलब, तुम्हें क्या लगता है ?'

'लगना भला क्या है ? यही कि उनका भाग्य खराब है । मैं तो पहले से ही तुमसे कहती थी कि 'यह सब तुम्हारे भाग्य से ही चल रहा है और भाई यश ले रहे थे । अब यह साबित हो गया कि उनका भाग्य कैसा था ?'

'मेरा कौन-सा स्वार्थ था ? यह तो मैं तुम्हारे भले के लिए कहती थी, पर उस समय आपको मेरा कहा समझ में नहीं आता था ।'

विनयचन्द्र हतप्रभ रह जाता है: 'हाँ-हाँ तुम ठीक कह रही हो ! मैं ही भोला था, इसलिए उस समय मुझे बात समझ में नहीं आती थी । ये तेरे जैसी भली स्त्री मुझे न मिली होती तो भाई-भाभी की हुकूमत के नीचे न जाने कितना कुचल जाता ! मुझे तो अब उनके प्रति बहुत द्वेष होता है ।'

बीसवीं सदी की विशेषता - दुनिया उल्टा चश्मा लगाकर विद्वान को मूर्ख समझती है :

यह बात यहाँ ठीक से देखने को मिलती है । पत्नी मिली तो 'क्या बात है ! इस पर वह भली स्त्री है ! निःस्वार्थ योगिनी ! मात्र पति के भले को ही देखनेवाली दयालु देवी ! उसके सामने सगे माँ-बाप भी कुछ नहीं हैं ! उल्टे शत्रु, द्वेष और निन्दा से फटकारकर मारने लायक लगते हैं और पत्नी प्रशंसा के फूलों से पूजने लायक !' पर ये सारी मिथ्या कल्पनाएँ तो कलियुग की हैं और उनमें भी विशेष रूप से बीसवीं-इक्कीसवीं सदी की विशेषता हैं ! परमात्मा एवं गुरु को तो भले के रूप में, निःस्वार्थ उपकारी एवं प्रशंसा करने लायक रूप में हृदय में नहीं बसाया, मगर साक्षात् दुनिया की दृष्टि से भले और उपकारी दिखनेवाले माँ-बाप को भी उसी प्रकार से हृदय में बसाना बन्द कर दिया ! क्यों ? एक महान् पत्नी देवी मिल गई, इसलिए ? अब, माँ-बाप के गुण बार बार गाने को नहीं मिलते, पत्नी के मिलते हैं ।

सेवा अब उतनी माँ-बाप की नहीं करनी होती जितनी पत्नी की ! परन्तु यह तो पशु-अनार्य (= शूद्रों) को शोभा देता है, किन्तु आर्यों (= सभ्यों) और उस पर भी जैन मनुष्य को नहीं । जानवरों में राजहंस, अश्व आदि ऊँची जाति के माने जाते हैं । उनकी खानदानी तथा चर्या औरों से अलग होती है ! इसी प्रकार से जैन मानव का भी वंश ऊँचा होता है । उनकी जीवन पद्धति, आदर्श, मनोकामनाएँ जीवन की प्रवृत्तियाँ आदि सभी कुछ उच्च कोटि की चाहिए । उनमें पहले नम्बर पर देवाधिदेव परमात्मा और गुरु तथा दूसरे नम्बर पर माता-पिता; भले, निःस्वार्थ उपकारी एवं प्रशंसा के लायक लगते हैं । बाद में

अन्य उपकारियों के बारे में सोचना । ऐसा जीवन जीने से हृदय में कितनी खुशबू रहेगी, और अन्त काल भी कितना गौरवपूर्ण तथा शान्तिमय हो जाएगा !

विनयचन्द्र बदल गया है । उसमें यह सब नहीं रह गया है, तो क्या वह सुखी है ? काल का या कर्म का तमाचा जब लगेगा, तब कैसी स्थिति होगी ? मगर उसका ख्याल पुण्य के काल में नहीं आता, जो मनुष्य का दुर्भाग्य है ।

पापानुबन्धी पुण्य तो मदारी है । वह बेचारे जीव को अच्छा भोजन देकर मनमाने नाच नचाता है । अब देखो न, विनयचन्द्र कितना निर्लज्ज नाच नाच रहा है ।

ऊपर आसमान, नीचे धरती :

अमीचन्द की आर्थिक परिस्थिति बिल्कुल ढह गई ! दूकान बेचनी पड़ी । कोई और व्यवसाय हाथ लगा नहीं ! घर-खर्च के लिए तो अब घर का सामान भी बेचना पड़ा, वह भी कब तक चलेगा ? लगभग सभी कुछ बिक गया । अब तो खाने के भी लाले पड़ने का अवसर आ गया था । जहाँ भी वह धंधा-नौकरी पूछने जाता, उसका भाग्य उसे साथ नहीं देता था । जवाब मिलता: 'अभी अभी दूसरे के साथ निश्चित कर लिया है, लाचारी है !' या 'हमीं को व्यापार कम करना पड़ रहा है ! नौकर को काम से निकालना पड़ा !' कहीं भी मदद नहीं मिलती ।

'कर्मों की जब रूठती है रेखा, सभी जगहों से तब टूटते हैं सहारे;

ऊपर है आसमाँ, और नीचे है धरती, कर्म ऐसे न करो कभी ।'

इतने कष्ट होते हुए भी, अमीचन्द की दृष्टि में भाई के प्रति प्रेम का अमृत अब भी बह रहा था ! किसी भी दिन उसे द्वेष नहीं आया । वह समझता है कि -

सद्विचारों की कुंजी :

'जड़ सम्पत्ति धन पर हमारी ऐसी प्रभुता नहीं है कि उसे मनमाफिक तरीके से वश में रख सकें। परन्तु प्रेम, दया आदि तो ऐसी आत्म-सम्पत्तियाँ हैं कि उन पर हमारा अविचल अधिकार रहता है। उन पर हम पूरा नियंत्रण रख सकते हैं ! तो फिर, क्यों हम स्वयं ही उस प्रेम, दया आदि संपत्ति को गँवाएँ ? अपने ही हाथों से हम उसे कैसे ठुकरा सकते हैं ?'

एक दिन जिनमति कहती है: 'हम लोग इतनी बड़ी मुश्किलों में हैं, तो जाओ न वीनु के पास, और कहो न, कुछ मदद करे।'

अमीचन्द बोले: 'कमाल की हो तुम तो ! ऐसे मौके पर नहीं जाया जाता है। यह तो दुनिया है ! चलती-फिरती ! सभी लोग जीवित को तो घर में रखते हैं, मुर्दे को नहीं ! अच्छे में सभी साथ देते हैं, डूबते में नहीं।'

'पर हमने तो उसके लिए बहुत किया है, तो क्या वह थोड़ा-सा भी नहीं करेगा ?'

'अरे, तुम्हें क्या पता नहीं है कि यदि वह कुछ करना भी चाहेगा, तो भी हमारे रूठे हुए कर्म उसे कुछ करने नहीं देंगे। अन्यथा वह यहाँ 'आप कैसे हैं ?' इतना भी पूछने नहीं आता ? पर इसमें उसकी कोई गलती नहीं है। भूल तो हमारे पिछले जन्म के कर्मों की है। इसलिए धीरज रखो और वीतराग प्रभु की शरण लेती रहो।'

11. किसलिए है जीवन ?

8वाँ अमृत: धैर्य-कर्म का ख्याल, अरिहंत शरण:-

इसी के साथ धैर्य, कर्मों की सोच एवं अरिहंत की शरण - इन तीनों का भी अमृत निरन्तर ऐसा सुन्दर बह रहा है कि उतावलापन - बेचैनी नहीं हो रही है । जहाँ व्यर्थ की आशाओं में धक्का खाना पड़े, उस ओर दौड़ना नहीं है, वीतराग प्रभु को भूलना नहीं है । अमृत की यही बलिहारी है कि बड़ी विपत्तियों के अवसरों पर भी वह मनुष्य को मस्त बनाए रख सकता है । उसके स्थान पर उतावलेपन, अधीरता आदि के विष तो जीवन त्रस्त बना देते हैं । कल्पांत का तो पार नहीं रहता !

'जीवन को क्या उज्ज्वल बनाना है ?' तो दृष्टि में से ईर्ष्या, उतावलापन, स्व-महत्ता आदि के विष को निकाल कर उसमें प्रेम-धैर्य-अर्हद् महत्त्व के अमृत को भर लें। जीवन धन्य बन जाएंगे !

जो भाग्यवान यह कर गए, उनके जीवन धन्य बन गए ! जीकर के यदि ऐसा करना न सीख सके, तो फिर जीएँ किस लिए ?

किस लिए जीएँ ? विनयचन्द्र का अत्याचार :

जीएँ क्यों ? खाने के लिए ? यदि ऐसा ही है, तो चौबीसों घंटे क्यों नहीं खाते हैं ? जीवन की क्रिया तो निरन्तर चल ही रही है तो फिर, उसका प्रयोजन खाना मानने के बाद तो उसे लगातार करते रहना चाहिए न ? चौबीसों घंटे मशीन क्यों चलती रहती है ? सामग्री पैदा करने के लिए। तो फिर माल बनाने की प्रक्रिया के बिना, जब तक हो सके तब तक क्या कोई मशीन को खाली चलाएगा ? नहीं। बस, इसी प्रकार से, यदि जीना सिर्फ खाने के लिए हो तो, यहाँ खाने की क्रिया के अलावा सिर्फ जीवित रहना कैसे कर सकते हैं ?

प्रश्न: यदि ऐसा करेंगे तो संसार में लज्जित होंगे और बीमार पड़ जाएँगे।

उत्तर: तो फिर ऐसा कहो न, कि जीना खाने के लिए नहीं है, वह तो लोक में प्रतिष्ठा बचाने के लिए और स्वास्थ्य का सुख बना रहे, इसके लिए है। मगर उसमें भी बाधा आएगी, क्योंकि इज्ज़त और आरोग्य का सुख जाते रहने पर भी, मनुष्य जीना नहीं छोड़ता।

प्रश्न: तो क्या मर जाएँ ?

उत्तर: क्यों नहीं ? माल बनाने के लिए मशीनें हैं, मगर कच्चा माल न मिलने पर मशीनों को खाली खाली तो चलाएँगे नहीं। बन्द ही कर देते हैं। इसी प्रकार से जीने की क्रिया का प्रयोजन इज्ज़त या आरोग्य को बनाए रखना सिद्ध न होने पर, सिर्फ जीए जाने की क्रिया क्यों करें ? तो आप इस पर कहेंगे कि -

प्रश्न: पर ऐसे भी जीने से, और काम तो होते रहते हैं ?

उत्तर: तो फिर किन-किन कामों के लिए जीएँ ? अब यह कहोगे, कुटुम्ब चलाने के लिए । नहीं, अनेकों के परिवार अपने आप चलते रहते हैं, उल्टे कुटुम्बी उसे चलाते हैं, फिर भी वह जीता है । क्यों जीता है ?

प्रश्न: मरना नहीं है, इसलिए जीता है, यही कहोगे न ?

उत्तर: नहीं । इससे क्या मरना रुक जाता है ? यदि ऐसा नहीं होता है, तो फिर जीवन का ऐसा प्रयोजन क्यों रखें कि जो अन्त में पूरा ही न हो । तो बताओ, जीएँ किस लिए ? ऐसा कहो कि कोई निश्चित प्रयोजन अब तक सोचा ही नहीं है, फिर भी जीवन में भाग-दौड़ की कमी नहीं है । प्रयोजन, लक्ष्य, हेतु निश्चित किए बिना की दौड़-धूप वह भी इस उत्तम, आर्य मानव-बुद्धि के भव में ? कोई विचार या शर्म नहीं आती ? ठीक से कोई अच्छा प्रयोजन सुनिश्चित नहीं किया है, बारबार वह मन में नहीं आ रहा है, इसीलिए जीवन का बहुत-सा हिस्सा व्यर्थ चला जाता है ! और शेष, व्यर्थ सोचने में, करने में समाप्त हो जाता है ! यह मानव-बुद्धि का सदुपयोग नहीं है । यहाँ बुद्धि-शक्ति तो ऊँची से ऊँची पूँजी है । श्रेष्ठ प्रकार का सुव्यवसाय उसके बल पर किया जा सकता है - करना ही चाहिए । जीवन और प्रज्ञा यदि खो गए, तो फिर क्या बचेगा ?

'जीवन का ध्येय तो निश्चित करो ।'

कहते हैं, 'फर्ज़ अदा करने के लिए जी रहे हैं ।'

कौन-से फर्ज़ अदा कर रहे हो ? :

जिसे करने में स्वयं और सामनेवाले, जो अब तक भव सागर में डूब रहे थे, वह ऐसा ही डूबे रहे ऐसे ? या तैरने लगे, ऐसे ?

फिर, मृत्यु तो आनेवाली है ही, तो तब तक जीकर माता, पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि के प्रति की हमारी जिम्मेदारियाँ तो पूरी हो जाएँगी, न ? नहीं, तो क्या मरने के बाद वापिस आकर उन्हें पूरी करोगे ? ऐसा तो होनेवाला है नहीं, फिर जीने का प्रयोजन इस प्रकार से क्यों निश्चित करें, जो अधूरा रह जाए, और रुलाये ? उल्टे आपको ऐसा

नहीं लगता कि माने हुए कर्तव्यों को जिस प्रकार से अदा कर रहे हो, उससे तो सामनेवाले की जीने की मुसीबतें बढ़ जाती हैं ? वह और अधिक खतरे में पड़ जाता है और स्वयं के भव-सफर को, सांसारिक यात्रा को और लम्बा खींच लेता है, क्या ऐसा प्रतीत नहीं होता ? आपने अपनी मानी हुई जिम्मेदारियों को पूरा करते समय, उनका मोह बढ़ा दिया, और अब आपके वियोग में वे और अधिक रो रहे हैं ?

सारांश: माने हुए उत्तरदायित्वों को पूरा करने का जीवन-संकल्प अज्ञानता के घर से जन्मा है, और सच तो यह है कि अन्तरात्मा से पूछना चाहिए कि जीवन को जीने का क्या वास्तव में यही एक लक्ष्य रखा है कि जिम्मेदारियों को ही निबटाना है ? नहीं, यह तो झेंपू और तुच्छ बहाना है, उसे बहुत गौण, महत्त्वहीन मान रखा है। मुख्य तो है स्वार्थ - सुविधाएँ, सैर-सपाटे, विषय लंपटता आदि का पोषण करना। इसलिए फर्ज अदा करने का मिथ्या बहाना न करें।

सच्चा कर्तव्य :

वास्तविकता में तो कोई ऐसा फर्ज अदा करना चाहिए जिससे स्वयं और अन्य भी, भव सागर में डूबे न रहें और उससे पार उतर जाएँ। सामने वाला अधिक लालसा की मुसीबत में फँसकर, खतरे में न फँस जाए बल्कि हो सके उतनी लालसाएँ कम करे और उनमें से स्वयं को उबारे, स्वयं का उत्थान करे।

जीने का यथार्थ प्रयोजन ऐसा होना चाहिए कि जो अनिच्छा से मरना पड़ता है; उस स्थिति को बदल दे। जो पुन: पुन: जन्म-मरण की आपदा को कम कर दे, आगे जाने पर पूर्णतया अजर अमर बना दे।

यदि कोई पूछता है: 'क्यों जी रहे हो ?'

तो कहें कि जन्म-मरण की आपदा में से निकलने की करनी कर सकें, इसलिए। मृत्यु के बाद उसे करना असम्भव है, इसलिए जीते-जी उसे कर लेना है।

अच्छी करनी ही प्रथम शीतलता है :

जन्म-मरण का नाश करने की करनी में क्या करना पड़ता है ? सर्व प्रथम तो अपनी दृष्टि, मानसिकता को सुधारना पड़ता है, दृष्टि में से विष को निकालकर अमृत भरना पड़ता है, क्योंकि अन्य सभी जन्म-मरण को टालने वाली प्रक्रियाओं का आधार अमृतभरी दृष्टि पर टिका है । वे सभी करनियाँ करके अन्त में इसी अमृतता का विकास करते करते वीतरागता रूपी अमृत तक पहुँचना है । इसलिए कहा जा सकता है कि-

किस लिए जीएँ ? :

अमृत-दृष्टि को स्थापित करने के लिए, विकसित करने के लिए और पूर्ण अमृतमयी दृष्टि तक पहुँचने के लिए । जो भी देवदर्शन - पूजन करो, सामायिक करो, व्रत-नियम, त्याग-तपस्या या दान आदि करो वह दृष्टि में अमृत को बसाने के लिए करो, बढाने के लिए करो । 'दृष्टि का विष कम होकर अमृत बढ़ने लगा है न ?' उस पर विशेष ध्यान दो, मन्थन करो, यहाँ तक कि दृष्टि के मूल में बसा विष, राग-द्वेष नष्ट हो जाए । वीतरागिता का अमृत पूर्ण एवं शाश्वत रूप से जगमगा उठे । अमीचन्द इसीलिए जी रहा है ।

अमीचन्द की नजरों में राग-द्वेष का विष निकालनेवाला कितना सुन्दर अमृत है इसे देखें । जब अत्यन्त दरिद्र अवस्था में पत्नी कहती है: 'जाओ, छोटे भाई के पास जाओ और मदद माँगो, तुमने तो उसके लिए बहुत किया है, तो क्या वह आपकी थोड़ी-सी भी मदद नहीं करेगा ?'

इस पर अमीचन्द कहते हैं: 'इस परिस्थिति में नहीं जा सकते हैं, अपने कर्म ही ऐसे लग रहे हैं, कि वह मदद नहीं करेगा । अन्यथा क्या वह पूछने नहीं आता ? इसलिए इस समय धीरज रखना चाहिए और वीतराग अरिहन्त प्रभु की शरण बार बार लेनी चाहिए ।'

1. आकुलता - व्याकुलता का विष दूर करके धीरज एवं सत्व

का अमृत ।

२. व्यर्थ की आशाओं का ज़हर दूर करके कर्म विश्वास (आस्था) का अमृत ।

३. निस्सार प्रवृत्तियों का विष दूर करके अरिहंत पर अगाध श्रद्धा-आस्था का अमृत ...

अमीचन्द ने इस प्रकार के अमृतों को अपनी दृष्टि में बसाया हुआ है । पाप बढ़ने पर कहीं पाप बुद्धि रुचिकर न लगने लगे, इसलिए वे धर्म साधना को बढ़ा देते हैं । मर्म समझे ? दु:ख आए अर्थात् पाप का उदय बढ़ गया न ? उस समय पाप बुद्धि बढ़ाई जाय ? या पवित्र धर्म बुद्धि ?

पापों के उदय समय में धर्म क्यों ? पाप बुद्धि रोकने लिए :

कोई पूछे: 'क्यों, अब धन चला गया तो धर्म सूझने लगा ? धर्म से पैसे वसूल करना है ?'

तो कहेंगे: 'नहीं।'

पाप के उदय काल में अनेकों पापपूर्ण विचारों - दुर्ध्यान आदि का बढ़ना सम्भव है, इसलिए धर्म की शरण लें, तो ही वे कम होंगे, इसलिए धर्म बढ़ाते हैं ।

धर्म बुद्धि इसलिए बढ़ानी चाहिए, ताकि पाप, पाप बुद्धि रुक जाए और कर्म भार न बढ़े ।

अमीचन्द की निर्धनता बढ़ती गई । इतनी तंगी आ गई कि अब भोजन भी बहुत कम करना पड़ा । अन्दर ही अन्दर, दो दो, तीन तीन दिनों तक एक बार भूखा रहना पड़े, ऐसी परिस्थिति आ गई !

विनयचन्द्र के यहाँ पुत्र जन्म :

इस तरफ ऐसा हुआ कि विनयचन्द्र के यहाँ तारा ने पुत्र को जन्म दिया । विनयचन्द्र अच्छा धनवान बन गया है, इसलिए पुत्र जन्म के हर्ष की बात ही क्या करें ! बाजे बजवाए ! लोगों के यहाँ पेड़े

भिजवाए, पर भाई के यहाँ नहीं ! इतना ही नहीं, भोजन-समारंभ भी आयोजित किया जिसमें दूसरों को न्योंता दिया, मगर भाई के यहाँ आमंत्रण नहीं भिजवाया ! कितना द्वेष ! कैसी ढिठाई !

कुदरत की विचित्रता :

अमीचन्द को जानने को मिला कि पुत्र जन्म हुआ है, बाजे बजे हैं, धूम-धाम मची है, फिर भी भाई ने उसके यहाँ कोई समाचार नहीं भिजवाया । यहाँ खाने के लाले पड़े हैं, वहाँ अमन - चमन फैला हुआ है ! एक ही माता-पिता की दो सन्तानें, फिर भी उनमें इतना अधिक अन्तर ! परन्तु अमीचन्द की अमृत भरी दृष्टि में भाई के प्रति कोई भी दुर्भाव, गलत भाव नहीं आया ! जिनमति भी उसी का अनुसरण करनेवाली मिली थी, उसने भी मन को मलिन नहीं किया । फिर भी वह बोली:

'देखो, न्यौता तो नहीं आया, शायद वे भूल गए होंगे, तो तुम ऐसा करो न, उसके यहाँ जाओ । अनेकों लोग भोजन करनेवाले होंगे, इसलिए काम-काज भी बहुत बढ़ गया होगा, तो उसमें सहायता करना, और फिर भोजन करते आना ! भाई ही का तो घर है ! इसलिए बिना आमंत्रण जाने में भी क्या हर्ज़ है ?'

अमीचन्द कहते हैं: 'भली औरत ! क्या ऐसे जाया जाता है ? उसका मन नहीं हो, और जाएँ, तो उसके दिल को दु:ख होगा ।'

'परन्तु अब हमारी भुखमरी की तो हद हो गई है और अब तुम्हारा शरीर भी तो काम नहीं कर पाता है । कितना दुबला हो गया है ! मुझसे अब तुम्हारा दु:ख नहीं देखा जाता है, इसलिए तुम्हारे पैर पड़कर कहती हूँ कि हर प्रकार की शरम को छोड़कर भी जाओ । भोजन करके आओ ।'

अमीचन्द बोला: 'तुम आग्रह रहने दो । मेरा पाँव नहीं उठेगा ।'

जिनमति रुँआसी हो गई, आँखों में पानी आ गया, रोते - रोते

गिड़गिड़ाती है: 'मुझ पर दया करो और जाओ, चाहे जैसे, मन को मारकर भी जाओ, अगर अब भी नहीं गए तो मुझे बहुत दु:ख होगा।'

एक दूसरे के दु:ख में रुदन :

अमीचन्द को भी रोना आ गया। दोनों आमने - सामने रो रहे थे ! कोई चुप करानेवाला नहीं था। दोनों ही सज्जन थे। स्वयं का दुख भूलकर - सामने वाले के दु:ख में दुखी हो रहे थे ! दिल भर आया है ! आँसू बह रहे हैं ! कुटिल कर्म की कैसी विचित्रता है ?

भाई को विभाजन करके देने के बाद, दिन-प्रतिदिन स्वयं की स्थिति गिरती जा रही है ! फिर भी अरिहन्त प्रभु में उसकी अटल श्रद्धा ने उसे दुखी नहीं होने दिया था। परन्तु आज एक-दूसरे के दुख के कारण हृदय छिद गये !

कर्मों की उद्दण्डता तो देखो ! संसार भी कितना निर्गुण ! भूतकाल में कुछ गलत - सलत करके आते हैं तो वह यहाँ खबर ले ही डालता है।

आठवाँ अमृत : पापों के उदय काल में पाप से भय एवं दया :

इस वन जैसे संसार में, कर्म जब जीव को असहाय बनाकर उस पर दु:ख का दावानल बरसाता है, तब उसे शीतल करनेवाला कोई नहीं मिलता है ! फिर भी, जीव इतना मूर्ख है कि 'भविष्य में ऐसा हुआ, तो क्या होगा ?' यह सोचकर पहले से चेतकर धर्म में नहीं लगता है। ऐसा कोई विचार भी उसके मन में नहीं आता है ! अतः निर्भीक होकर पाप किए जाता है ! उसी प्रकार से 'इस समय ऐसी दशा भोगने वाले बेचारे जीवों की कितनी करुण दशा हो रही होगी ! चलो, मैं कुछ के काम तो आऊँ; उनके दु:ख टालूँ ' ऐसा विचार भी नहीं करते। इससे दया नहीं है।

संसार के जो स्वार्थ और विषाक्त आकर्षण पाप में लीन कराते हैं तथा दयाहीनता सिखाते हैं, वैसा संसार सारवान है या निस्सार ?'

दोनों बैठे रो रहे थे, अन्त में अमीचन्द ने कहा: 'रहने दो, अब रोओ मत, तुम्हारा दुख टालने के लिए मैं जाता हूँ । मगर, क्या एक बात पूछूँ ? तुझे भूखा छोड़कर, क्या मैं वहाँ भोजन करने बैठ सकूँगा ? क्या मैं इतना धीठ हूँ ?'

'नहीं, आप तो बहुत कोमल हैं, यह मैं जानती हूँ । मगर देखो; ऐसा करना, आप भोजन कर लेना और मेरे लिए थोड़ा-सा लेते आना । भाई का घर है इसलिए चलेगा ।'

विनयचन्द्र का चरित्र तो देखा है ना, क्या तो वह भोजन कराएगा और क्या देगा ? परन्तु गरीबी की वजह से एक क्षीण-सी आशा बनी हुई है । पेट बेगार भी करवा लेता है ! भूख आशा में खींच रही थी, फिर भले ही वह निष्फल होनेवाली हो ।

यह संसार ऐसी ही बाँझ (निष्फल) आशाओं तथा कर्मों के अनपेक्षित और असह्य मार आदि के कारण निस्सार है, ऐसा ज्ञानीओं का कहना है ।

12 अमीचन्द का अपमान

अमीचन्द भाई के घर :

अमीचन्द भारी कदमों से निकला और भाई के घर पहुँचा । वहाँ तो धूम मची हुई थी । अनेकों सेठ आए हुए थे, ऊपर के मजले पर सबके साथ विनयचन्द्र बैठा था, अभिनन्दन ले रहा था । बातें हो रही थीं । नीचे तक आवाज़ें आ रही थीं । अमीचन्द सोचने लगा कि ऊपर कैसे जाए ? खुद के कपड़े भी मैले और फटे-पुराने थे ! 'अब क्या करे ?' उलझन थी, मगर एक रास्ता सूझा । राह निकाले बिना छुटकारा नहीं था, क्योंकि वैसे ही घर लौट जाएगा तो पत्नी का दिल विदीर्ण हो जाएगा, इसे वह जानता था । इसलिये उसने देखा, नीचे

लोग काम में लगे हैं । वहीं एक ओर सब्जियों का ढेर लगा था, चार - पाँच लोग सब्जी काट रहे थे । उन्हीं के साथ अमीचन्द भी जुड़ गया और सब्जी सुधारने लगा । मन में सोचा कि अन्त में इन आदमियों के साथ खाने का अवसर मिलेगा ।

विनयचन्द्र क्रोधित :

वह काम निबट गया, भोजन तैयार हो गया, लोगों को भोजन करने बिठा दिया । विनयचन्द्र नीचे उतरकर अमीचन्द को देखता है और उसे बहुत गुस्सा आता है: 'अरे ! यह पापी यहाँ आ गया ? किसने बुलाया था इसे ? इसने तो भिखारियों-जैसे कपड़े पहनकर मेरी नाक कटाने जैसा किया है । पर क्या करूँ ? मुँह से कुछ कहूँगा तो लोगों को लगेगा कि बड़े भाई से इस प्रकार से बोल रहा हूँ ? खैर मरने दो, इसे बुलाना ही नहीं है' इस प्रकार से मन में तर्क किया ।

रमा - रामा का उधम :

वर्षों तक उपकार लेकर बड़ा हुआ भाई, क्या इस हद तक जा सकता है ? मगर ...

इस संसार में रमा (लक्ष्मी) और रामा (स्त्री) अनुचित जितना ना करावे उतना कम है !

रमा अर्थात लक्ष्मी; तथा रामा याने स्त्री । रमा और रामा अर्थात् कंचन और कामिनी दोनों अपार अनर्थों का मूल हैं, क्योंकि वे अनेकों दुष्कृत्यों, अपकृत्यों, अनुचित कृत्यों को कराते हैं; करने की प्रेरणा देते हैं; करने की सुविधा देते हैं । लक्ष्मी को लाने के लिए भी ढेर सारे पाप, लाने के बाद भी अनेकों पापों का आचरण होता है । स्त्री के मोह में फँसने की वासना जगी तब से, और उसमें फँसने के बाद तो आजीवन, विशेष पापों का हिसाब रहता नहीं है । मन - वचन और काया; तीनों ही कंचन और कामिनी के पीछे पापमय प्रवृत्तियाँ करने में लीन हो जाते हैं । इन दोनों के मोह में महान् देव - गुरु - धर्म को भी गौण कर बैठते हैं वहाँ फिर माँ-बाप या भाई आदि की क्या गिनती !

'जीवन में मुख्य हैं दो; पत्नी और पैसा !' यही जीवन - सूत्र बन जाता है । फिर इसके लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता है । जितना अनुचित न करे, उतना कम है !

इसीलिए, प्राचीन समय में, पहली शिक्षा पैसा कमाने की नहीं, मानवता विकसित करने की दी जाती थी । व्यवसाय कला के प्रशिक्षण के समय भी धार्मिकता एवं मानवता के पाठ भी एक या अन्य प्रकार से सिखाए जाते थे । किस कारण से ? यही कि यदि इनके संस्कार पड़े होंगे तो वह कंचन और कामिनी के पीछे पागल नहीं बनेगा । इस पागलपन में वह अनुचित आचरण नहीं करेगा ! दिमाग़ में भी अयोग्य वस्तु नहीं बसाएगा ।

आज की शिकायतों का निदान :

आज इन सभी बातों को निकाल बाहर करके सिर्फ पैसा कमाने की विद्या सिखाई जा रही है ! और साथ साथ विलासिता की प्रेरणाएँ भी बढ़ गई हैं ! उसके पोषक साधन एवं वातावरण पैदा हो गए हैं ! फिर चोरियाँ, खून, बदमाशियाँ, कोर्ट के मुकदमे आदि में खूब अभिवृद्धि हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं । फिर चिल्लाना है कि, 'घूसखोरी-रिश्वत, मिलावट, झगड़े-टंटे, चोरी, लूटपाट आदि बहुत बढ़ गए हैं' मगर उनका सही इलाज नहीं करना है, सिर्फ अर्थ और काम की शिक्षा का यही परिणाम आएगा । गलत काम करानेवाले ये ही दो तत्त्व हैं । मानवता का पाठ पढ़ाना नहीं है फिर चोरी आदि अनर्थ तो बढ़ेंगे ही न ?

यहाँ विनयचन्द्र को शिक्षण तो अच्छा दिया गया था; मगर शहर की पढ़ी चालाक पत्नी मिल गई ! और भाई उस कामिनी के मोह में पड़ गए । इसीलिए, अतीव अनुचित आचरण करते समय भी वे हिचकिचाते नहीं हैं ! इसीलिए बुद्धिमानी इसमें है कि कंचन और कामिनी के अंध-भक्त न बनें ।

विनयचन्द्र बड़े भाई को आया देख, स्वागत करने के स्थान

पर उन्हें धिक्कार के साथ देखता है और क्रोध से भर जाता है ! वह मन ही मन कसमसा उठता है। लोगों की पंगत बैठती है। अमीचन्द से कोई नहीं कहता कि 'आप भोजन करने बैठ जाएँ' इसलिए वह परोसने का कार्य करता है। एक पंगत उठती है, दूसरी बैठती है, उसमें भी वैसा ही हुआ ! अन्त में नौकरों को भोजन के लिए बैठाया, पर यहाँ भी उसे कोई भोजन करने बैठने को कहनेवाला नहीं है। अब क्या करें ?'

अमीचन्द भूखे लौटे :

अमीचन्द इतने निर्लज्ज नहीं थे कि अति आवश्यकता होने पर भी पराए घर में बिना कहे खाना खाने बैठ जाएँ। ऐसी हिंमत ही नहीं कर सका। मन में एक बार सोचता है कि, 'मुझे मेरे भूखे रहने की चिन्ता नहीं है, मगर जिनमति को कितना दु:ख होगा।' उसे ऐसा देखने को मिले कि पुत्र की तरह पाले - पोसे विनु ने इतना विवेक भी नहीं किया ? और उसके घर जाने के बाद भी मैं भूखा लौटा ? इससे तो पत्नी को अपार दु:ख होगा।' मगर वह मन को मोड़ लेता है और सोचता है कि 'यह सब होने पर भी पत्नी ऐसा तो नहीं ही चाहेगी कि मैं निर्लज्जों की तरह से, बिना कहे भोजन करने बैठ जाऊँ। इसके स्थान पर अगर मैं भूखा ही लौट जाऊँ, तभी शोभा रहेगी।'

बस, अमीचन्द; जो कई दिनों का भूखा था, वह पंगत के बाद पंगतों को खुशी खुशी खाना खाते देखता रहा और लेश मात्र भी मन को बिगाड़े बिना, घर लौट आया।

पत्नी राह देख रही थी कि भोजन करके आएँगे और हाथों में खाना लेते आएँगे' इसके बदले वही दुर्बल काया, वे ही लड़खड़ाते पैर और उसी फीके भूखे मुख को देखकर वह चौंक उठी। पूछती है:

'क्यों, भोजन करके नहीं आए ?'

जैनत्व के वचन :

अमीचन्द कहते हैं: 'नहीं, किसी ने मुझसे भोजन के लिए बैठने को नहीं कहा, इसलिए लौट आया। होता है; शायद किसी का

मुझ पर विशेष ध्यान नहीं गया होगा और मेरे बारे में सोचा नहीं होगा । बाहरी लोग को यह लगा होगा कि मैं तो घर का आदमी हूँ और घर के लोग भाग - दौड़ में लगे थे, इसलिए शायद मुझसे नहीं कहा होगा, - यही हुआ होगा । फिर, बिना कहे भोजन कर लेने से तो अच्छा है, भूखा रहना । वही मुझे शोभा देता है ।'

'शोभा तो ठीक, मगर वीनु में इतनी अक्ल नहीं है ?'

अमीचन्द कहते हैं: 'वह बिचारा इतनी हड़बड़ी में भला कितना ध्यान रख सकता है ? सच तो यह है कि हमारे कर्म ही यह सब करा रहे हैं, इसमें दूसरों को दोष देना व्यर्थ है । चलने दो, ऐसा करने से पाप कर्म तो भुगत जाएँगे और कम होंगे । परेशानी क्या है ?'

चिन्ता तो पाप कर्म बढ़ जाएँ, तो करनी चाहिए । कम होते हुओं की नहीं । इससे दु:ख में चिन्ता नहीं होती ।

कितने जैनत्व और सज्जनता से भरे शब्द हैं ! हृदय यदि सज्जनता के रस से लबालब भरा हो, तभी शान्त मुद्रा से ऐसे शब्द निकल सकते हैं ! ऐसी परिस्थिति में यह सौम्य मुद्रा और सौम्य वाणी को बचाए रखी है; यह सोचने लायक बात है । यह असम्भव नहीं है ।

'जीवन जीते हुए आत्मा को उज्ज्वल करते जाना है', ऐसा निश्चय हो, जीने का यह प्रयोजन सुघड़ता से गढ़ा गया हो, फिर सौम्यता तनिक भी कठिन नहीं है । देखो न, ऐसे मनुष्य इसी दुनिया में बसते हुए भी सौम्यता को सँभाले हुए हैं न ? देश - काल तो ज्यों के त्यों हैं, बदले नहीं हैं, हमीं बदल गए हैं - पूर्व के आदर्श एवं जीवन पद्धति से अलग पड़ गए हैं । फिर, यदि सोचें तो हम भी शायद इतनी अधिक कठिनाइयों में नहीं, मगर कम मुश्किल समयों में तो सौम्यता रख ही सकते हैं न ?

जिनमति कर्म - सिद्धान्त की बातों से सहमत होते हुए कहती हैं: 'यह तो सच बात है, मगर यह काया भूखे - भूखे यदि अटक गई तो क्या ? अब मुझसे आपका दु:ख नहीं देखा जाता है, आप तो अब

लाज - शरम मत देखिए; जाओ फिर से एक बार वहाँ जाओ, भोजन करके आओ। नहीं तो ठहरो, मैं ही वहाँ जाकर कुछ ले आती हूँ।'

इतना कहकर वह उठने लगती है; अमीचन्द मन में विचार करते हैं कि 'यह जाय वह ठीक नहीं होगा; क्योंकि वहाँ कोई आदर - भाव नहीं देगा इसलिए इसके सेवा-सम्हाल से भरे दिल को चोट पहुँचेगी। पहले तो इसने अतिथियों, साधर्मिकों की सेवा - भक्ति बहुत की है। खुले हाथों और विशाल दिल से भक्ति की है। वही अगर यहाँ अनादर देखेगी तो दिल को आघात पहुँचेगा। इसलिए, मैं ही फिर से चला जाता हूँ।'

ऐसा सोचकर अमीचन्द कहते हैं: 'चलो, अगर तुम बहुत आग्रह कर रही हो तो जाता हूँ।'

अमीचन्द फिर से गया। वहाँ जाकर देखता है कि भिखारियों को भी देने का कार्य निबट गया है, तो अन्दर अब खाने का क्या बचा होगा ? सोच में पड़ गया कि अब क्या करे ?

स्वयं की दिल की उत्तमता बहुत है। स्वयं की भूख से भी अधिक है पत्नी के दिल की पीड़ा, इसलिए स्वयं की प्रतिष्ठा को भुलाकर वे हृदय - पीड़ा को टालने के लिए आस - पास नज़रें दौड़ाते हैं। 'कहीं जूठा - छूटा ही कोई कौर - टुकड़ा, बाहर फेंका हुआ मिल जाए। उसी को लेकर मैं घर चला जाऊँ।'

जूठा टुकड़ा भी नहीं :

इतने में उसे घर के सामने टीले पर लड्डू के टुकड़े पड़े हुए दिखे इसलिए उन्हें लेने के लिए वहाँ जाता है। 'आस - पास कोई देख तो नहीं रहा है ?' सोचता हुआ नज़रें नीची करके, झुककर दो - चार टुकड़े उठाने जाता ही है, तभी विनयचन्द्र के घर के बाहर खड़ा हुआ चौकीदार चिल्लाता है:

'एय ! कौन है ? क्या ले रहा है ? निकल यहाँ से ! यह लकड़ी देखी है ?'

ऐसे वह क्यों बोला ? अमीचन्द को पता नहीं था, मगर विनयचन्द्र ने ऊपर झरोखे में बैठे हुए उसे देख लिया था और चिढ़कर उसने पहरेदार से कह दिया था कि 'इस आदमी को यहाँ खड़े मत रहने देना।'

बाघ - भालू के साथ प्रतियोगिता :

कितनी निर्दयता है यह ! द्वेष के विष से लबालब भरा मन यह करा रहा है। नादान जीव को यह ज्ञात नहीं होता कि 'इस विष को हृदय में बसाकर मैं कहीं बाघ भालू से मुकाबला तो नहीं कर रहा हूँ ना ? कहीं मैं उनकी जाति में तो शामिल नहीं हो गया हूँ ना ? अकारण ही इस महा उपकारी बड़े भाई से द्वेष क्यों कर रहा हूँ ? मैं नमक हराम ? कहाँ गई मानवता ? तो श्वान से भी मैं गया बीता हो गया ? जब यह ज़हर अशुभ कर्मों के उदय के रूप में परिणाम देगा, तब मेरी कैसी दशा होगी ? और ऐसा करके मुझे मिलता भी क्या है ?' नहीं ऐसा कोई विचार नहीं है, सिर्फ एक ही धुन है; द्वेष, द्वेष और द्वेष !

अमीचन्द पहरेदार की ललकार से घबड़ा गया, 'कहीं कोई डंडा या पत्थर फेंककर न मार दे ?' जूठन भी घर ले जाकर भूख से तड़पती पत्नी को खिलाने की जो आशा बँधी थी, वह भी धूल में मिलती दिख रही है ! लेकिन और करे भी क्या ?

अभिमान व्यर्थ है :

कितनी मुश्किलों के दिन आए हैं ! कितना भयानक समय है ! पाप - पुण्य के बीच झोंके खाते सांसारिक जीवन में ऐसे दिन भी देखने पडते हैं। इसीलिए अच्छे दिनों में अभिमान नहीं करना चाहिए। 'बस, क्या चिन्ता है ? हम तो शहंशाह हैं' ऐसा घमंड करना व्यर्थ है, मूर्खता है। जड़ के संयोग चंचल हैं, नश्वर हैं। इस बात का पूरी तरह से ध्यान रखना चाहिए। बड़े-बड़े चक्रवर्ती भी सब कुछ यहीं छोड़कर दुनिया से चले गए। प्रतिष्ठित करोड़पति भी सामान से लदे जहाजों के समुद्र में डूबने से फटेहाल बन गए। लक्ष्मी का क्या भरोसा ? आज है

और कल नहीं । अतः उसका अभिमान व्यर्थ है ।

देखो न, अमीचन्द के हाल ! गर्व नहीं था, फिर भी लक्ष्मी चली गई । वह बेचारा देख रहा है कि ये टुकड़े नज़रों के सामने पड़े हैं, सिर्फ लेने भर की देर है । कई दिनों की भूखी पत्नी कुछ सन्तुष्ट होगी ! इसलिए भैया की ललकार को महत्त्व न देते हुए उठाने के लिए नीचे झुकता है । तभी भैया दौड़ता आकर उसे एक धक्का इतने जोर से देता है कि अमीचन्द जमीन पर गिर पड़ता है ! भैया कहता है: 'भाग, भाग, वरना इस लकड़ी का मार खायेगा ।'

बेचारा अमीचन्द, नीचे पड़ा हुआ, शरीर पर चोट लगी है, फिर भी ज्यों - त्यों करके खड़ा होता है और वहाँ से चला जाता है ।

जब कष्ट - दु:खों की सेना आ उमड़ती है, तो वह फिर, पीछे मुड़कर नहीं देखती ! हमले पर हमला, पुन: आघात पर आघात देती चली जाती है ! आदर, सम्मान, टुकड़ा मिलना तो दूर रहा, उसके बदले उसे अपमान और धक्के मिले ! पछाड़ खाकर गिरने से वेदना मिली ! कर्म क्या कार्य करता है ! कैसी-कैसी विडम्बनाएँ भुगतनी पड़ती हैं !

इतना सब होने पर भी, अमीचन्द की अमृतभरी दृष्टि में अपने भाई के प्रति अमृत बरस रहा था । स्वयं के दुष्कर्मों और उनका उपार्जन करनेवाली अपनी ही पापी आत्मा पर उसे घृणा, घिन आ रही थी । जिनवचनों ने हृदय पर प्रभाव डाला था, अतः मन के लिए कोई अनुचित विचार करना सम्भव ही नहीं था ।

मन हृदय पर किलोलें करता है, उस पर समर्पित है । अगर हृदय ही है जो चोर है; पापी है, तो फिर मन भी ऐसा ही सोचेगा न ? इसलिए 'हमारे दिल की अतल गहराइयों में क्या है ?' यह तलाशने जैसा है । उसका परीक्षण कर यदि हम उसका शुद्धीकरण करेंगे तो फिर मन में निर्मल विचारों का प्रवाह बह निकलेगा, ओछे विचार ओझल हो जाएँगे । हृदय कहें या दृष्टि कहें, एक ही बात है ।दृष्टि में लक्ष्मी-

ललना, हाट-हवेली आदि सुख देनेवाले पदार्थ यदि बसे होंगे, वे मीठे - रुचिकर लगते होंगे तो वे दृष्टि के विष हैं, अमृत नहीं; और उनके कारण मन भी व्यर्थ के विचारों को करने से नहीं रुकेगा।

इस प्रकार से दृष्टि में 'वह मेरा शत्रु है, मुझे लूटनेवाला, मेरा अपमान करनेवाला,' आदि - इत्यादि का ज़हर भरा होगा तो मन भी द्वेषपूर्ण, क्रोधी विचारों से जलता रहेगा।

(1) अमीचन्द की दृष्टि में तो लक्ष्मी, लाड़ी आदि सभी; आगन्तुक प्रवासियों जैसे हैं।

(2) इतना अधिक अयोग्य कार्य करने वाला छोटा भाई भी शत्रु नहीं, पर प्रिय भाई ही है, ऐसा देखना उसकी दृष्टि का अमृत है।

(3) चाहे जितने मुश्किल दु:ख-कष्ट के अवसर भी मन में बेचैनी, हड़बड़ाहट उत्पन्न न करे, उन्हें भी शान्ति से स्वीकार लेना; यह भी उसकी नज़रों का अमृत - शालीन वृत्ति है।

ये तीनों अमृत एक अद्भुत सम्पत्ति है। परिवार को रेल-यात्रा में मिले प्रवासी के समान मानना, दु:खदाता मनुष्य को भी बंधुतुल्य समझना, कठिन अवसरों को भी बिना उद्वेग, उत्तेजना स्वीकारना - इसी पाठ को अमीचन्द ने आत्मसात् किया था।

कहाँ संस्थापित हुआ है जैन-शासन ? मन्दिर - उपाश्रय में सिर्फ भाग-दौड़ करते हैं, सिर्फ दो पैसों का खर्च शुभ कार्यों में करते हैं अथवा अमुक नियम - व्रतों को ग्रहण कर ले; मगर कुटुम्ब और कामिनी कैसे ? तब तो कहते हैं: 'ये ही मेरे वास्तविक रिश्तेदार हैं।' थोड़ा भी प्रतिकूल करनेवाले कैसे ? तो कहेंगे: 'मेरे शत्रु हैं !' दु:ख, आपत्ति, अपमान के समय कैसा व्यवहार करना चाहिए ? उबलता हुआ ? क्या इसी में जैन शासन अवस्थित है ? संघ तो बड़ा निकाला मगर यात्रीगण अधिक न खा जाएँ, कहीं ज्यादा खर्च न करा दें, क्योंकि, ऐसा हिसाब रखा है कि 'यात्रा सस्ती है, संघ-भक्ति भी सस्ती, सिर्फ पैसे मँहगे हैं।' साधर्मिक की अवहेलना, त्रास और तकलीफ होने

देने में भी क्या जैन शासन बसा हुआ है ? जैन नाम धारण करके घूमे, मगर दुश्मन की बात छोड़ो, किन्तु जिस के साथ कोई लेना - देना भी नहीं है ऐसे या फिर साधर्मिक की एवं साधु-साध्वियों तक की निन्दा की, ओछी बातें कहीं, क्या इनमें जैन शासन बसा है ? वीतराग जिनेश्वर देव का शासन कहाँ बसा हुआ कहा जाएगा ? कहना ही पड़ेगा कि अमृत भरी शीतल दृष्टि में; विषाक्त नजरों में नहीं ! भवनिर्वेद, तत्त्वानुसारिता, लोक संक्लेश त्याग, गुरु-जन पूजा, परार्थ-करण आदि में ही जैन शासन बसता है ।

अमीचन्द अमृत से भरा मानों एक चन्द्रमा था । लौटकर घर आता है, पत्नी पूछती है: 'क्यों क्या हुआ ?' पर वह उसे हताश नहीं करना चाहता अतः संक्षेप में बात पूरी करता है । 'हमारे कर्म बहुत भारी हैं, फिर भी, इतना आनन्द तो मनाओ कि हमारे सिर पर किसी की कोई देनदारी नहीं है । जो अड़चनें हैं, उनमें पाप-कर्म धुलते जा रहे हैं ।'

इस प्रकार से, इन विपत्तियों को कर्म बन्धनों को काटनेवाला बताना, यह भी अमृत ही है, श्रेष्ठ श्रेणी की शीतलता ! कष्ट के अवसरों को, अशुभ कर्मों का मल कम करनेवाला बतलाकर उसका उत्साहपूर्वक सत्कार करने का मन का झुकाव भी दृष्टि का एक सुन्दर अमृत है ।

दुःख उत्सव है :

स्नेहियों को पूछने का मन हो: 'क्यों भाई ! किसी दुःख में आ पड़े हो ?' तब ये कहते: 'कर्मो के कम होने का उत्सव मना रहा हूँ ।'

क्या ? उत्सव ! समझे ना ? मानना मत कि 'बोलना है ।' मन को इस प्रकार का बनाकर अमीचन्द, ऐसा व्यवहार कर रहे हैं । पत्नी को समझाते हैं:

'देखो, कर्मों का उदय क्या किसी के टाले टला है, ? नहीं न, तो फिर उसके लिए इतना दुःख क्यों करें ? कष्ट भोगे बिना तो ये कर्म

जानेवाले हैं नहीं, और तकलीफें भोगने के बाद वे रहनेवाले हैं नहीं, जानेवाले ही हैं। तो फिर मान लो न, कि जैसे लुटेरे गाँव से चले जाने पर उत्सव होता है वैसा यह भी उत्सव है।'

जिनमति कहती है: 'अगर तकलीफें न हों और सब कुछ अच्छा हो, तो धर्म की साधना अच्छी तरह से कर सकते हैं न ?'

कष्ट ही धर्म साधना है :

अमीचन्द उत्तर देते हैं: 'यहीं तुम देखने लायक नहीं देख पाई। धर्म साधना भी क्यों करनी चाहिए ? पाप-कर्मों का नाश करने के लिए ही न ? इस प्रकार से कर्म नाश होते-होते सभी कर्मों का नाश होकर मोक्ष मिलता है, इसीलिए धर्म साधना हम करते हैं, न ? अगर कर्म - नाश के लिए धर्म साधना है, तो कष्टों को आनन्द से भोगकर भी कहाँ कम कर्मों का नाश होता है ? ऐसा कहें कि दु:ख - कष्टों को सहर्ष भोगना भी एक प्रकार की धर्म साधना ही है; वह भी नकद लाभ देनेवाली धर्म साधना ! सहन किया और कर्म नष्ट हुए !'

वीतराग भगवान् के शासन ने यह दिव्य दृष्टि दी है कि दु:ख-कष्टों को उत्सव समझो, उनसे सुनिश्चित रूप से कर्मों का नाश होता है। नर्क के जीवों को भी, असह्य दु:ख भोगने से कर्म नाश तो होता ही है, मगर साथ ही साथ वे जीव समाधि न रखने के कारण घोर कषायों का सेवन करते हैं, इससे नए कर्म बँधते जाते हैं। मगर शान्तिपूर्वक सहन करनेवाला, कर्मनाश होने से, मुक्ति के अधिक निकट पहुँचता रहता है।

धर्मात्मा को यदि बीमारी रहा करती हो, तो उसे खेद होता है कि - 'मैं कैसा बदनसीब हूँ। इस बीमारी के कारण मैं तप नहीं कर पा रहा हूँ !' मगर यह देखना चाहिए कि रोग भोगते हुए भी अशाता वेदनीय कर्म तो कम होते जा रहे हैं; क्या यह कमाई कम है ? शर्त सिर्फ इतनी है कि 'कर्मक्षय करने का उत्सव मिला है,' यह मानकर बीमारी आदि को भोग लेना चाहिए, अतः इसमें कम आराधना नहीं

मानें। महात्मा कष्ट भोगने की आराधना में से ही केवल ज्ञान एवं मोक्ष पा चुके हैं।

अमीचन्द की दृष्टि जैन शासन के सिद्धांतों के आधार पर ही वस्तु-दर्शन करने की बन गई है। इसीसे, दु:ख में भी उसका मन प्रशान्त बना रहता है।

अमी :- **1)** वस्तु को ज्ञान की दृष्टि से देखना।

2) घटना को आत्म-लाभ में बदल देना।

1- दृष्टि में यह एक अमृत ऐसा है जो वस्तुस्थिति को ज्ञान की सलाह के अनुसार देखता है।

2- आत्म-लाभ में वह कैसे उतरे, उसी हिसाब से वस्तु या प्रसंग को अपनावें, अवलोकन करें, यह ध्येय भी दृष्टि का अमृत है।

आत्मा के लाभ में उतारने के लिए :

आत्मा के हित में उतारना भी एक बहुत सुन्दर अमृत है। हमें जीवन जीना तो है एवं घटनाएँ तथा पदार्थ भी सामने आने वाले हैं; तो वे सब आत्मा को हितकारी बनें, ऐसा स्थायी भाव क्यों न मन में बना लें ? मन को सलामत रखा जाय, तो कुछ भी कठिन नहीं है।

जैसे, **1)** धन कमाया, अब उसे आत्मा के लाभ में उतारने के लिए, सर्वप्रथम तो यथाशक्ति दान में लगाएँ, कोई अर्हद् भक्ति, गुरुसेवा, ज्ञानसेवा, साधर्मिक की भक्ति या उद्धार, दुखियों पर दया जैसे कार्यों में उसे लगाएँ।

2) शेष धन जो स्वयं के लिए रखा, उन्हें भी आत्म-लाभ की ओर ले जाने के लिए सोचें: 'चलो, अब इतनी सुविधा हो गई है तो अब सांसारिकता से ध्यान खींचकर, धार्मिक प्रवृत्तियों में चित्त को अधिक लगाऊँगा, उन्हें कुछ बढ़ाऊँगा' ऐसा सोचकर उन गति-विधियों को बढ़ाया जा सकता है।

ऐसा भी सोच सकते हैं:

3) ये पैसे मिले, उन्हें रख भी लिया, परन्तु यह तो मैंने अपने पुराने पुण्यों के खज़ाने में से लिए हैं और साथ ही यह पैसा षट्काय जीवों की विराधना, लोभ आदि पापस्थानकों के आचरण से आया है। अतः पूर्व के पुण्य का क्षय एवं नए पापों का अर्जन, इस प्रकार से दोहरा नुकसान हो रहा है।

४) फिर, 'आरंभा परिग्रहमूला' = आरम्भ - समारम्भ परिग्रह से जन्म लेता है, इसलिए, इन मिले हुए पैसों से आरम्भ समारम्भ भी होंगे; ये भी दुखदायी ही हैं, अतः जीव ! विशेष रूप से अब जाग्रत रहना ! धन को ही सर्वस्व मत मान लेना, इनमें भगवान को मत भूल जाना, धर्म का आचरण मत चूक जाना। श्रावक को तो 'धर्मे धनबुद्धिः' अर्थात् धर्म ही यथार्थ धन है, ऐसी दृढ़ मान्यता रखनी चाहिए। मिट्टी जैसा धन तो जीव को दुर्गति खरीदने के काम आता है, उसे यथार्थ धन कैसे कह सकते हैं ? बस, ऐसी ही भावनाएँ करते रहें।

धन बुरा क्यों है ? :

प्रश्न: परन्तु दान करने से सद्गति भी तो मिलती है ? दुर्गति आरम्भ आदि से है या धन से ?

उत्तर: वह सद्गति किससे मिली ? धन से या धन के त्याग से ? विचार करें कि वह किससे मिली है ?

प्रश्न: तो वहाँ भी वह धन से आरम्भ समारम्भादि पाप कर्म करता है और दुर्गति मिलती है, वह भी धन से कहाँ मिली ? वह तो पाप - कृत्यों से मिली कहलाएगी न ? बेचारे धन को बुरा क्यों कहें ?

उत्तर: अरे ! आरम्भ विलास में न भी खर्चें, संग्रह करके रखें तब भी वह दुर्गति देता है। अतः धन खराब है। मम्मण को इस प्रकार से सातवीं नर्क मिली थी। इसलिए धन को दुर्गति खरीदने का साधन कहते हैं। धन होता है तो मोह भी होता है, राग भी होता है, उस पर नज़र रखनेवाले पर द्वेष भी पैदा होता है। धन से ढेर सारा पाप और दुर्गति मिलती है, अतः उसे दुर्गति का कारण समझें। जब कि धर्म तो

बिना धन के भी हो सकता है - अगर दान धर्म नहीं, तो शील धर्म, तप धर्म।

प्रश्न: परन्तु धन के बिना दान धर्म तो नहीं हो सकता है न ?

उत्तर: वह भी हो सकता है। दूसरों को प्रेरित करके दान करा सकते हैं, अथवा दान करनेवाले की अनुमोदना खूब की जा सकती है। यह कराना, अनुमोदना करना यह भी दान धर्म की ही साधना कही जाएगी। अच्छा धर्म-खर्च करनेवाले को उसके धर्म कार्य में सहायता करना भी दान धर्म की ही उपासना है।

अतः, पैसे पाने के अवसर को अच्छे विचारों के द्वारा आत्म-लाभ में बदला जा सकता है। ऐसे ही अन्य अवसरों पर भी कर्म की विचित्रता, जड़संयोगों की अनित्यता, भवितव्यता आदि के बारे में विचार करने से उसे आत्मा के लाभ के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। मूल बात यही है कि उसके लिए वैसी दृष्टि बनी रहनी चाहिए। वही अमृतमयी दृष्टि है।

मगर जो दृष्टि में इसके स्थान पर ज़हर होगा तो इस उत्तम मानव भव में विपरीत कार्य करेंगे।

सब कुछ इन्द्रियों की और मन की मौज के लाभ में उतारने की विचारधारा एवं क्रोध, आवेश, अभिमान, तृष्णा आदि की खुजली; यह सब दृष्टि का विष है, उसके होने पर उसी की तुष्टि - पुष्टि हमारा लक्ष्य बन जाता है। अमीचन्द और उसकी पत्नी अमृत भरी दृष्टि से जीवन जी रहे थे। इसलिए अमीचन्द भुखमरी की, और भाई की ओर से हुए अपमान भरे व्यवहार की कठिन परिस्थिति में भी पत्नी को सुन्दर, अमृतमय दृष्टि की समझ देते हैं।

13. लक्ष्मीदेवी का यथार्थ स्वप्न

अमीचन्द ने पत्नी को बहुत धीरज बँधाया, अमृत दृष्टि भरा तत्त्वज्ञान भी समझाया । उसी बीच वह दूसरी बार विनयचन्द्र के यहाँ गया और वहाँ क्या-क्या हुआ, इसे जानने की उसकी जिज्ञासा भी शान्त कर दी ।

दोनों जन समता भाव में हैं, कोई बेचैनी या उग्रता नहीं है, मगर फिलहाल तो दोनों भूखे ही सो गए । अमीचन्द को रात में स्वप्न आया । स्वप्न में देखता है कि कोई देवी उसे दर्शन दे रही है । अमीचन्द प्रसन्न होकर पूछता है कि 'आप कौन हैं ?'

'मैं लक्ष्मी देवी हूँ ।'

'अहा ! अच्छा हुआ आप पधारीं । मेरी ये परेशानियाँ और कब तक चलेंगी ?'

'मैं तुझे उसी का आश्वासन देने आई हूँ । बस थोड़ा धीरज और रखो । छह महीने बाद तुम्हारा महान् उदय है ।'

'मगर आपके दर्शन होने के बाद भी छह महीनों की देर ? मुझे अधिक कुछ नहीं चाहिए । बस, जीवन कट जाए, उतना ही काफी है ।'

'बात तो सच है , मगर अब भी तेरे कठिन कर्म शेष हैं । उनके सामने हमारी भी नहीं चलती । इसलिए मैं तुम्हें एक चेतावनी देना चाहती हूँ । कोई परदेशी यहाँ आकर तुम्हें एक हीरे का हार भेंट करने का आग्रह करेगा, परन्तु तुम उसे मत लेना ।'

अमीचन्द ने पूछा: 'क्यों ?'

लक्ष्मी देवी बोलें: 'कहा न ? अभी छह महीने की देर है ।'

'परन्तु अब तो हद हो गई है ।'

'फिर भी, इतना धीरज और रखो, अगर अधीर बनोगे तो बात नहीं बनेगी ।'

बस, इतना कहकर लक्ष्मी देवी लुप्त हो गईं ! स्वप्न पूरा हुआ । अमीचन्द उठकर धर्मध्यान में लग गए । प्रातः श्राविका को सपने के बारे में बतलाकर कहते हैं: 'आज तक ऐसा कोई स्वप्न नहीं आया और आज ही ऐसा सपना आया है, तो मुझे वह सच लग रहा है । अतः हमें धीरज रखना चाहिए, वैसे भी, ये छह महीने भी देखते-देखते बीत जाएँगे ।'

जिनमति भी कहती हैं: 'चिन्ता नहीं है, मगर सुनो, उस हीरे के हार की बात ध्यान में रखना ।'

'देखते हैं, सचमुच आगे क्या होता है ?'

फिर अमीचन्द मन्दिर जा आते हैं और जिनमति मन्दिर जाती हैं। अब होता यह है कि दूर गाँव का एक श्रावक सालों पहले परिचय में आया था। वह परदेस जाने को निकला था। उसे हुआ कि चलो, साधर्मिक से मिलता जाऊँ। वह वहाँ जा पहुँचता है। पहले तो वह बड़े घर में, विनयचन्द्र के घर में गया और पूछा, 'अमीचन्द भाई कहाँ हैं ?'

विनयचन्द्र बोला: 'वे तो दूसरे घर में रहते है,' कहकर आदमी को साथ भेजकर घर बता दिया।

छोटा-सा घर था। देखकर ही मन में शंका उठती है और अन्दर से भी वह घर को खाली देखता है। वह सोच में पड़ जाता है: 'यह क्या ? अमीचन्द निर्धन हो गया है ?'

इस बीच अमीचन्द स्वागत करके उसे घर में बिठाता है, 'चिन्ता में पड़ जाता है कि साधर्मिक का सत्कार किस प्रकार करे ?' परन्तु अतिथि ही स्वयं पूछ लेता है: 'क्यों ? कोई परेशानी है ?'

'नहीं' अमीचन्द कहता है: 'चलता है, यह जीव ही मोहमूढ़ है।'

'परन्तु नहीं, मुझे स्थिति कुछ बदली हुई लग रही है। कहाँ पहले का वैभव विलास और कहाँ आपका आज का यह घर !'

'तो क्या हुआ ? कर्मों का उदय विचित्र होता है।'

परदेसी हार देता है :

साधर्मिक परिस्थिति को समझ गया था। वह मन में निश्चय करता है कि वह साधर्मिक का उद्धार करेगा। पर उसके पास नक़द राशि नहीं थी, अतः बहुत विचार किए बिना, सीधे अपने गले का बेशकीमती हीरों का हार निकालकर अमीचन्द से कहता है: 'लो, इस गरीब की छोटी-सी भेंट स्वीकारो।'

है न, साधर्मिक का प्रेम ? साधर्मिक याने अपने देवाधिदेव की सन्तान । ऐसे साधर्मिक से अधिक मूल्यवान और क्या हो सकता है ? द्रव्य की तुलना में देव का प्रेम अधिक होना चाहिए, तो फिर देव के पुत्र की खातिर धन खर्च करने में हृदय को झटका नहीं लगता ।

तभी अमीचन्द को स्वप्न में कहे लक्ष्मी देवी के शब्द याद आते हैं, इसलिए पहले तो वह शिष्टता के नाते कहता है: 'अरे, कहीं ऐसा भी होता है ? देव - गुरु की कृपा से सब ठीक है । मैं इसे नहीं ले सकता ।'

साधर्मिक के उच्च शब्द :

साधर्मिक भक्ति की भावना 'पर इस में संकोच करने जैसी कोई बात नहीं है । यह तो मेरे साधर्मिक बन्धु को मेरी छोटी-सी भेंट है और भेंट भी कैसी ? यह तो आपकी ही वस्तु है, तो अब इसे ले लो । जीवन में लक्ष्मी का आना - जाना कोई बड़ी बात नहीं है, साथ में क्या लेकर हम पैदा हुए थे ? और मरते समय भी क्या साथ ले जाएँगे ? इसलिए आपके जीवन में आपत्ति आयी, उसकी भी चिन्ता न करें और यह हार मेरे पास से आपके पास जाए, इसकी भी चिन्ता न करें ।'

'फिर, मेरा इतना अहोभाग्य कहाँ कि मेरी चीज़ मेरे साधर्मिक के काम आये ? साधर्मिक अर्थात् मेरे प्रभु का भक्त, प्रभु का पुत्र ! वह तो मेरे सगे भाई से भी बढ़कर है ! मेरी तरण-तारण जिन शासन की पीढ़ी की अविच्छिन्न परम्परा को टिकाए रखनेवाला मेरा साधर्मिक भाई है, वह दु:ख में तड़पे और मैं मौज उड़ाऊँ ? यह तो मुझ पर बडा लांछन होगा । साधर्मिक को पीड़ित छोड़कर पुराने पुण्यों के कारण मुझे प्राप्त ऐसी लक्ष्मी अपवित्र है जो विषय - वासनाओं में खर्च हो । एसी लक्ष्मी मेरा सर्वनाश कर देगी । ऐसी पाप - लक्ष्मी के संकुचित स्वार्थ से मुझे पीसने मत दो, मुझे दुर्गति में मत फेंके जाने दो । मेहरबानी करो, मैं पाँव पड़कर कहता हूँ कि मेरा उद्धार होने दो । लो, यह हार लो । बस, ले ही लो । मैं अपने हाथों से इसे तुम्हारे गले में पहना रहा हूँ ।' ऐसा

कहकर हार तुरन्त अमीचन्द के गले में पहना दिया । फिर, उठा और चला गया । अमीचन्द 'ऐ - ऐ' ... कहता रह गया और वह अदृश्य हो गया ।

यहाँ अमीचन्द परदेसी की गद्‌गद वाणी सुनकर पिघल गया ! जानता है कि लक्ष्मी देवी ने स्वप्न में उससे ना कहा है । 'अन्यथा महान् अनर्थ हो जाएगा' ऐसा कहा है और उसे वह स्वप्न सच भी प्रतीत हो रहा है । स्वप्न के अनुसार ही एक परदेसी उसे आकर हीरों का हार भी दे जाता है । अतः उसके लेने से अनर्थ होने की सम्भावना भी सच प्रतीत हो रही है । ये सभी विचार उसे आते हैं परन्तु दूसरी ओर परदेसी कि गद्‌गद् मीठी वाणी और बाद में उद्धार परदेसी का, अमीचन्द का नहीं, और उसके लिए उसका पैरों पर गिरकर बिनती करना !

इन सभी बातों ने अमीचन्द के हृदय को भी गद्‌गद् कर दिया था । फिर इस समय उसकी दु:खद स्थिति भी थी । क्या खाएँगे, इसकी चिन्ता उसे दिन - रात लगी रहती, इसलिए गले में हार आते समय वह उसका जोरदार निषेध भी नहीं कर सका । हार रख लिया, परदेसी चला गया ।

परदेसी आकर अमीचन्द को हीरों का कीमती हार दे गया, यह प्रसंग हृदय में कुरेदकर अंकित करने योग्य है । यह प्रसंग अनेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात सिखा जाता है; जैसे कि:

साधर्मिक मूल्यवान है, हीरे नहीं :

कभी सालों के बाद साधर्मिक मिले, एवं उसकी दु:खद स्थिति दिखे, उस समय महा कीमती हीरों का हार भेंट कर देना, यह दाता जैन के मन में उस मूल्यवान हीरों के हार की अपेक्षा साधर्मिक की कीमत अधिक थी इस बात को सूचित करता है । मनुष्य को लक्ष्मी का राग बहुत होता है । मगर उसके सामने जब साधर्मिक का राग जोर मारता है तो ही मूल्यवान मानी गई चीज़ हाथों से छूटती है । हम दावा तो करते

हैं कि हमें संघ से बहुत प्रेम है । मगर उसकी परख यहाँ आकर होती है कि क्या संघ का पीड़ित अंग हमारे दिल को इतना विलोड़ित कर देता है कि हम उसके उद्धार के लिए अपने जड़-मूल के राग, लोभ आदि को पिघला दे । यदि ऐसा होता है तो दावा सच होने का सन्तोष लिया जा सकता है ।

स्वयं का अहम्; दया की उपेक्षा कर देता है :

कहते तो हैं कि, 'मुझे साधर्मिक पर, साधु पर, बहुत प्रेम है' मगर हमारे निमित्त से, हमारी किसी प्रवृत्ति के निमित्त से उनके मन में कषाय आया और उन्होंने हमारे प्रति दुर्ध्यान दिखलाया, तब क्या हम सचमुच लौट सकते हैं ? नहीं । तब हमें अपना अहंकार बीचमें आता है । मैं अपनी गति - विधियों से कैसे लौट आऊँ ? मैं क्यों उससे क्षमा माँगू ? या उसे मनाऊँ? समझाऊँ ? ऐसा अहं के कारण होता है । फिर सामनेवाले का कषाय, दुर्ध्यान से होती वेदना हमारे दिलों को छू नहीं पाती । तो अब आप ही कहो, उस समय हमारे दिल का अहम् का राग कितना सशक्त होता है और संघ, साधर्मिक, गुरु का राग कितना फुसफुसा होता है ?

दुर्भाग्य तो यह है कि लौटना तो बाद की बात है; अहं के आवेश में दिल में यह दु:ख भी नहीं होता कि 'इन बिचारे साधर्मिक आदि को कितना क्लेश हो रहा है ! और इधर मैं अभिमान में फूला जा रहा हूँ ? ऐसे में मिथ्यात्व को आने में देर नहीं लगती; क्योंकि पाप का दु:ख तो हो ही नहीं रहा है । हम शायद भ्रम में ही बैठे रहते हैं कि 'मेरी प्रवृत्ति तो उचित है, न्याययुक्त है ।' जब कि यथार्थ में हम मिथ्यात्व की ओर बढ़ते जा रहे होते हैं । संघ - साधर्मिक - साधु पर का प्रेम तो कहने मात्र का प्रेम होता है और अहंत्व, लक्ष्मी आदि पर प्रगाढ़ प्रेम होता है, वही ऐसी दुर्दशा का निर्माण करता है । इनसे यदि बचना है तो यही मार्ग है कि 'जगत् में तारक संघ - साधु - साधर्मिक का योग, जो मिलना बहुत कठिन है, वह यहाँ मिला है, तो उन पर अगाध प्रेम उमड़े ! हृदय में उनके प्रति भारी स्नेह उछले ।' ऐसे प्रेम में

परदेसी ने साधर्मिक की सेवा में हीरों का मूल्यवान हार अर्पित कर दिया। यदि लक्ष्मी को, अहंत्व को हम कह दें कि 'तू कौन है ? क्या साधर्मिक की उपेक्षा करके मैं तुझे रखूँ ? नहीं, तेरी उपेक्षा करके मैं अपने साधर्मिक को अपने निकट रखूँगा,' तो यह मुश्किल नहीं होगा।

साधर्मिक की भक्ति एवं सेवा से स्वयं हमारा उपकार होता है:

इस घटना से हमें दूसरी बात यह सीखने को मिलती है कि साधर्मिक के दु:ख, विपत्ति, क्लेश को टालना चाहिए, उस पर उपकार करने के स्थान पर स्वयं अपने पर उपकार करने के लक्ष्य से। परदेसी ने कहा कि 'भाई साहब ! मेरी पापलक्ष्मी को सही ठिकाने लगने दें, जिससे मेरा उद्धार हो जाए। मेरा उद्धार करने की खातिर यह हार ले लो।' कितनी सीधी, निर्मल, निरहंकार भाव की दृष्टि है। 'मैं सामनेवाले पर उपकार करूँ' इसमें सम्भव है अहंकार का पोषण होता हो, परन्तु 'मुझे तो यह मेरे भले के लिए करना है' इस दृष्टि में अहंकार को स्थान नहीं मिलता है।

कौन - सा स्वार्थ या लाभ मैला ? :

प्रश्न: ठीक है, अहंकार न भी हो, परन्तु स्वयं का भला करने की दृष्टि में पुण्य पाने का लोभ तो होता ही है, न ? अथवा स्वार्थ की भावना भी आ सकती है ? तो इससे दृष्टि मलिन बन जाती है, वह निर्मल कहाँ रही ?

उत्तर: यहाँ एक बात तो यह है कि स्वयं का कल्याण यदि पाप से बचने के लिए करना है तो उसमें दृष्टि मैली नहीं होती अथवा शुद्ध धर्म-साधना के रूप में भले की इच्छा की जाए तो उसमें भी कोई दोष नहीं है। इसमें कर्मों का क्षय, आत्म-शुद्धि, देव-गुरु-धर्म के प्रति कृतज्ञता का पालन होता है। ये सभी यदि आत्म - कल्याण के रूप में हों, तो उसमें कोई खराब लोभ या स्वार्थ नहीं है। पौद्‌गलिक वस्तु की तृष्णा या स्वार्थ हो, और अथवा पौद्‌गलिक स्वार्थ हो, तथा उसके लिए ही पुण्य का लोभ हो, तो वह खराब है, मन का मैल है और वह

निम्न है। पर आत्मिक कल्याण का लोभ बुरा नहीं है।

1) पुण्य का लोभ भी समग्र रूप से (= एकान्ते) बुरा नहीं है :

दूसरी बात यह है कि शायद पुण्य का लोभ भी हो, फिर भी वह यह समझकर हो कि:

(1) पाप के उदय में जीव को क्लेश, सन्ताप, असमाधि (=अधैर्य) बहुत होता है, इससे आत्मा अशुभ कर्मों से बँधकर दुर्गति की भागी तथा धर्महीन बन जाती है। इसलिए, ऐसे पापों से बचने के लिए पुण्य चाहिए तथा

(2) पुण्य के बिना सद्गति एवं सद्धर्म की सामग्री नहीं मिलती है; इसलिए पुण्य की आवश्यकता रहती है।

ऐसे विचारों में सम्भव है पुण्य का लोभ रहता हो, तो उसे बुरा लोभ नहीं कहा जाएगा और चित्त मलिन भी नहीं कहा जाएगा। क्योंकि इसमें भी लक्ष्य धर्म की अनुकूलता होने पर है, आत्मा के उद्धार की सहूलियत पर है, न कि विषय - सुखों की अनुकूलता या अमीरी की सुविधा पर। इसलिए धर्म पर ही मुख्यतया आकर्षण है।

यों, दोनों प्रकारों से दृष्टि को मलिन हुआ नहीं कहेंगे और, दूसरों का उपकार करते हुए, स्वयं के उद्धार की दृष्टि ही प्रधान रखना योग्य है।

2) सेवा - विनयादि भी स्वयं के उपकार के लिए है :

यह बात पूज्यों की सेवा - भक्ति विनय में तो विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए अन्यथा वहाँ यदि यह मन में आ गया कि 'मैं गुरु को सँभाल रहा हूँ,' तो अहंकार के पोषण की सम्भावना अधिक बढ़ जाती है। उपकारियों पर भी एहसान चढ़ाने का कार्य हो जाएगा। अवसर आने पर उनके या औरों के कटु वचन सहन नहीं होंगे, उल्टे सामने से उनसे यह कहने का मन होगा कि 'हमने आपका कितना अधिक ध्यान रखा है ? मेरे सिवाय और कौन आपको इतना सँभालता ...?' ऐसे

- ऐसे उद्‌गार निकालने का मन होगा । अतः पूज्यों की, उपकारियों की सेवा - विनय - भक्ति करते समय ऐसी ही दृष्टि रखनी चाहिए कि 'उनका मुझ पर कितना बड़ा उपकार है जो मुझे उन्होंने ऐसी आराधना करने का लाभ दिया है ! अहो ! ऐसे तारक महात्मा नहीं मिले होते तो मैं सेवा, विनय आदि की उच्च कोटि की साधना कहाँ से करता ? ऐसा कर्मक्षय कैसे होता ? ऐसा करवाने वाले पूज्यों के मुझ पर कितने सारे अनुग्रह हैं ?'

3) सामनेवाले के क्रोध आदि में भी अपना ही उपकार होता है :

आत्महित की दृष्टि की बलिहारी है । कोई सामनेवाला आवेश में आकर हम पर क्रोध करता है, तब भी हमें क्षमा-भाव रखकर उसका उपकार मानना चाहिए कि 'भला हो उसका कि उसने मुझे क्षमा धर्म को पालने का अवसर दिया है । हालाँकि हमें 'वह क्रोधित हो' ऐसी इच्छा नहीं रखनी चाहिये; मगर घट चुकी घटना पर 'इस प्रकार का धर्मका लाभ पाने की और यह सामनेवाले का हम पर उपकार ही है,' ऐसा मानने की बात है ।

सब कुछ आत्मिक लाभ में उतारने की दृष्टि तो महान् रत्नों की एक खान है । उससे अद्‌भुत लाभ मिलते हैं । सिर्फ विवेक चाहिए, तनिक समझदारी चाहिये; 'किसी भी प्रसंग में आत्मिक लाभ किस प्रकार गिना जा सकता है'... यह बुद्धि उपयोग में लायें, निष्ठा को शुभ रखकर अनुसंधान करें ।

दान, सेवा रोते मन से मत करो :

साधर्मिक के उद्‌धार में यदि स्वयं का आत्मिक लाभ सोचें तो वास्तव में स्वयं का उद्‌धार होता हुआ ही दिखेगा । परदेसी भी यही बात अमीचन्द से कह रहा था जिससे अमीचन्द भी गद्‌गद् हो गया । फिर भी वह स्वयं ऐसा नहीं कहता कि 'ठीक है, जैसी आपकी इच्छा ।' फिर भी, परदेसी स्वयं, अति मूल्यवान हार, अमीचन्द के गले में पहना देता है और चला जाता है । इससे ज्ञात होता है कि उसे तो

यह दान- कर्म करना ही था । सामान्य तौर पर, दृढ़ निश्चय के बिना महान् कार्य नहीं होते हैं; और यदि हो भी जाते हैं तो फिर उनकी गहरी अनुमोदना नहीं चल पाती है । बल्कि ऐसा भी मन में आ सकता है कि 'भाई ! करना ही पड़े, ऐसी परिस्थिति बन गई थी, इसलिए किया, बाकी ठीक है ।' यह क्या ? दिया हुआ वापिस लौटकर नहीं आएगा, फिर भी अनुमोदना गँवायी । आगे बढकर थोड़ी-सी अनचाहत का भाव आने से, पहले जो लाभ मिला था उसमें कमी आ सकती है !

दूसरों को देने का कार्य, अथवा दूसरा कोई सेवा - भक्ति - विनय का कार्य यदि उदास मन से किया जाए तो उसका कोई मूल्य नहीं होता । काम तो उत्साह से ही होना चाहिए । करना ही है तो, और रोते - रोते क्यों ? यदि एक बार शुभ भावना से कर दिया, तो करने के बाद पछताना - रोना क्यों ? ध्यान रहे कि जीव का जनम - जनम का अभ्यास दान और सेवा का नहीं है, इसलिए यह कार्य उत्साह से करने का सहज ही में मन नहीं होता, परन्तु मन मारकर भी उत्साह - उल्लास के बिना करने से भी काम नहीं चलता । तभी जाकर पौद्गलिक स्वार्थ की माया छूट पाती है, नष्ट होती है और जीवन भी कुछ सफल होता है । इसलिए दान और सेवा में विशेष प्रसन्नता रखें, रुँआसे होकर न करें ।

अमीचन्द ने हार रख लिया । परदेसी गया ।

अमीचन्द विचार में पड़ गया है, तभी पत्नी जिनमति बाहर से आती है और हार देखती है । 'हार ! जगमगाते हीरों का हार !' उसने सोचा, 'यह कहाँ से आ गया ?'

पूछती है: 'यह हार कहाँ से आया ?'

अमीचन्द साधर्मिक परदेसी के आने से लेकर अब तक की सारी कथा कहता है ।

सुनकर पत्नी तुरन्त बोली: 'मगर आपने इसे क्यों रख लिया ?'

वह बोलता है: 'लेना तो नहीं था, परन्तु उनकी भावुकता भरी बिनती और अपनी तीव्र जरूरतों को देखकर रख लिया।'

'मगर आप तो लक्ष्मीदेवी की चेतावनी को जानते हैं, न ? विपत्ति आई तो ?'

'आएगी तब देखेंगे। अभी कौन-सी कम मुसीबतें भोग रहे हैं ?'

फिर जिनमति ने आग्रह किया कि 'जाओ - जाओ, उस भाई को जाकर हार लौटा आओ।' पर अब कहाँ इतने बड़े शहर में उसे ढूँढूँगा ? फिर दरिद्रता भी बहुत गहरी है ... आदि उलझनों के कारण अमीचन्द ने हार नहीं लौटाया और इससे अनर्थ के कैसे तूफान आए, देखें !

ठगनी धारणाओं का प्रहार :

मनुष्य की कल्पनाएँ कहाँ तक पहुँच सकती हैं ? वह सोच बैठता है कि यह तो सरलता से हो जाएगा, या ऐसा होना सम्भव नहीं है। मगर हमें जीवन में ऐसा अनुभव क्या नहीं हुआ है कि जब हमारी अनेकों मान्यताएँ निष्फल हो गई हों ? 'सामनेवाले को क्रोध में जवाब दे देंगे तो वह दब जाएगा' ऐसी धारणा रखकर उत्तेजित करनेवाले शब्द तो कहे, परन्तु मामला बिगड़ गया। सामनेवाला अधिक उत्तेजित हो गया, हम फीके पड़ गए, हमें पछताना पड़ा। क्या ऐसा अनुभव नहीं होता है ? कहाँ गई सारी धारणा ? ऐसी ठगिनी धारणाएँ करना भी तो मन का ही दुराग्रह है, भ्रम है। इसे हटाने का भी प्रयत्न करना चाहिए।

उसमें भी जहाँ अनर्थ की भविष्य वाणी मिले, विपत्ति की सम्भावना हो, वहाँ 'ऐसा कुछ नहीं होगा,' ऐसी धारणा रखकर दौड़ पड़ना, यह भी एक दुसाहस ही कहलाएगा। ऐसा दुसाहस करने से मुसीबत आकर सामने खड़ी हो जाए तब कष्ट भी अपार होता है। वैसे तो संसार विपत्तियों से भरा हुआ है। और जब स्वयं का अनुभव हो कि 'थोड़ा-सा भी कष्ट झेलने की शक्ति नहीं है, उस समय मन में

शान्ति रह नहीं पाती, व्याकुलता रहती है, उसके बहुत सारे विचार आते हैं, कषाय भी उत्पन्न हो जाता है,' तब फिर विशेष आपदा आ सके ऐसी परिस्थिति की उपेक्षा क्यों करें ? गलत धारणाओं के पीछे क्यों दौड़ें ?

गलत धारणाओं से भरा हुआ जीवन मन-मौजी - शेखचिल्ली जैसा बन जाता है, व्यर्थ के दुसाहस करवाता है, मूढ़ता बढ़ाता है एवं सन्ताप - कष्ट उत्पन्न करता है।

अमीचन्द समझदार मनुष्य है, किन्तु संयोगों के कारण 'तंगी में हीरे के हार से उसे राहत मिलेगी' ऐसी मिथ्या धारणा में घिसट जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि अच्छा समय हो तो ऐसी गलत धारणाओं से बचा जा सकता है और ऐसे अच्छे संयोग विशिष्ट पुण्य से ही आ सकते हैं। और इसके लिए ठोस एवं भरपूर धर्म - साधना के अलावा और कोई दूसरा उपाय नहीं है। यहाँ उसकी अच्छी सामग्री एवं प्रेरक संयोग मिले हैं, तो फिर धर्म साधना की उपेक्षा क्यों करें ?

14. अमीचन्द क़ैद में

हीरे बेचने बाजार में :

अब देखिए किस प्रकार से सामने अनर्थ आ खड़ा होता है। अमीचन्द पैसों की तंगी में है अतः हीरों के हार में से एक हीरा निकालकर बेचने के लिए वह हार लेकर बाजार जाता है। एक जौहरी की दुकान में जाकर हार बताता है और कहता है: 'इसमें का एक हीरा बेचना है, क्या भाव चल रहा है ?'

जौहरी हार को लेकर जाँचता है और चौंक पड़ता है ! चौंकने का कारण यह था कि उस नगर के राजा की रानी का हार गुम हो गया था, इसलिए राजा ने आदेश दिया था कि यदि कोई ऐसा क़ीमती हार

बेचने आवे तो उसे पहले राजा के पास देखने को भेजें।

जौहरी चक्कर में पड़ गया कि क्या करे ? सौदा अच्छा आया है, मगर राजा का आदेश है, तो क्या साहस करना चाहिए ? समझदार था अतः उसने साहस न करने का निश्चय किया और अमीचन्द से कहा: 'अन्दर आओ।'

अन्दर ले जाकर हीरा जाँचने का ढोंग करता है, फिर कहता है: 'बैठो, मैं अभी आता हूँ।'

कोतवाल पकड़ता है :

अमीचन्द को तो कोई शंका थी ही नहीं। वह बैठता है और जौहरी जाकर कोतवाल - जमादार को सारी बात बतलाता है। फिर, अकेला आकर अन्दर अमीचन्द के सामने हीरा परखने का ढोंग करता है।

इतने में जमादार आकर बाहर बुलाता है और पूछता है: 'हार किसका है ?' व्यापारी कहता है: 'इस सेठ का।

जमादार अमीचन्द से कहता है: 'चलो, महाराज के पास चलना पड़ेगा। अमीचन्द पूछता है: 'किस लिए ?'

'कारण और कुछ नहीं है, आपका हार वहाँ जाकर जाँचेंगे।'

अमीचन्द के मन में तो शंका थी ही नहीं, इसलिए राजा के पास जाने को चल पड़ा। राजा के पास जाकर जमादार ने राजा से सारी बात कही। राजा ने अमीचन्द को अन्दर बुलाया और सम्मानपूर्वक स्वागत करके हार देखने को माँगा। अमीचन्द ने हार राजा को देखने के लिए दे दिया, राजा ने अन्दर जाकर हार रानी को दिखाया।

रानी ने उसे ध्यान से देखा और बहुत खुश हुई ! बोली: 'बस, यही अपना खोया हुआ हार है !'

राजा ने सुनिश्चित करने के लिए कहा: 'देखो, ठीक से देखना, अन्यथा निर्दोष को परेशानी न हो जाए।'

रानी ने पुन: देखा, जाँच की, परखा और कहा: 'ठीक है । हार अपना ही है । इसमें कोई शंका नहीं है, इसमें अमुक - अमुक चिह्न भी बने हैं ।'

बात निबट गई । बाहर आकर राजा ने अमीचन्द से पूछा: 'आपके पास यह हार कहाँ से आया है ?'

राजा तलाशी लेता है :

राजा का प्रश्न सुनकर अमीचन्द के मन में शंका पैदा हुई । उसे लगा कि 'इसने मुझे किसी सौदे के लिए नहीं बुलाया है, मगर ऐसा लगता है जैसे कोई हार चोरी हुआ है । खैर ! मगर अभी अगर मैं उस साधर्मिक का नाम लूँगा तो उस बेचारे पर आफत आ जाएगी, सम्भव है उसे कोई यह हार सिर मँढ़ गया हो ! चाहे जो हो, मुझे उसका नाम नहीं लेना चाहिए । इतना सब सोचकर अमीचन्द कहता है: 'हार मेरा है ।

'मगर तुम लाए कहाँ से ?'

'कहाँ से का क्या मतलब ! चुराकर नहीं लाया हूँ । हार मेरा ही है ।'

'अरे ! तुम्हारा कहाँ से होगा ? यह हार तो रानी का चोरी हुआ हार है । बोलो, सच बोलो; कहाँ से लाए हो ? अन्यथा भयंकर सजा होगी ।'

तब भी अमीचन्द कहता है: 'रानी साहब का हार चोरी हुआ होगा, मगर यह हार तो मेरा ही है ।'

साधर्मिक की रक्षा की अमृत - दृष्टि :

राजा को बहुत क्रोध आता है । ऐसा लगता है कि वह कोई बहुत भयानक सजा दे दे । फिर भी, अमीचन्द के दिल में अटल निश्चय है कि 'हार भेंट करनेवाले साधर्मिक का नाम तो वह नहीं ही लेगा । हार देते समय उसने मेरा साधर्मिक गिनकर कितना ऊँचा मूल्यांकन

किया था ! तो मुझे भी ऐसे मूल्यांकन मुबारक हों । जगत् में सभी की सेवा-भक्ति और रक्षा मिलती है, पर साधर्मिक की कहाँ मिलती है ? भले ही मुझे कुछ भी सहन करना पड़े, मगर उससे यदि मैं, साधर्मिक पर आ रही विपत्ति को रोक सका, तो वह मेरी एक महान् सुकृत की साधना होगी ।' इन विचारों के कारण अमीचन्द एक ही उत्तर दे रहा है: 'यह हार मेरा है ।'

उसकी दृष्टि में यह एक महान् अमृत देखने जैसा है । यदि दृष्टि ऐसी होती कि 'इस मुसीबत को मैं क्यों सिर पर लूँ ? साधर्मिक का साधर्मिक जाने । यदि वह इसे कहीं से लाया होगा, तो क्या उसे पता नहीं होगा ? अब उस पर विपत्ति आवे तो आवे । मुझे तो, जैसी वास्तविक स्थिति है वह बता देनी चाहिए,' यदि ऐसी सोच होती तो वह विषाक्त दृष्टि मानी जाती । उस दृष्टि में ज़हर घुला कहलाता ।

तब दृष्टि में ऐसा अमृत है कि नज़र ऐसी निश्चित हो कि साधर्मिक की रक्षा करने का धन्य अवसर कहाँ से मिले ? मार्ग पर जाते हुए एक साधारण जीव को भी यदि बचाते हैं तो वह सुकृत बन जाता है, तो साधर्मिक बन्धु का बचाव तो महान् सुकृत बनेगा ही । वैसे भी, मोहान्ध कुटुम्बी आदि की बहुत सारी बातें हम अपने स्वार्थ की खातिर सहन कर लेते हैं, यह मानव-जीवन की विशेषता है, यह तो परोपकार है, महान् आत्महित है । ऐसी ही दृष्टि अमृतमय कहलाती है ।

जब सहन करना पड़ता है, तब वहाँ से दूर भागना और 'उसमें हमारा काम नहीं है' ऐसा विचार रखना, यह विषाक्त दृष्टि है । उस समय ऐसी कायरता न दिखाते हुए 'सहन करना पड़ेगा तो खुशी से सह लेंगे' यह विचार, यह दृष्टि ही अमृतमय दृष्टि है ।

अमीचन्द की दृष्टि में कित-कितने अमृत भरे हुए हैं, यह जानने जैसा है । जहाँ अमृत की कमी होती है, वहाँ व्यक्ति स्वयं की सुविधा का ही विचार करता है । इसलिए ऐसा कुछ करने का अवसर आता है तब, मन बचाव करने को प्रेरित होता है कि 'सभी कुछ

एकदम से सहन थोड़े न किया जाता है ।'

दसवाँ अमृत - सहन करने का सहर्ष सत्कार करना :

परन्तु यहाँ पहला प्रश्न यही उठता है कि दृष्टि कैसी बँधी है ? 'सभी कुछ सहन करना ही चाहिए । यदि सहन करना ही पड़े तो उसे प्रसन्नता से स्वीकारना चाहिए । इसी में लाभ है' ऐसी दृष्टि ? अथवा, 'नहीं, ऐसा क्यों सहन करें ? सह लेने में कायरता है । यह जीवन सभी का सहन करने के लिए नहीं है' ऐसी दृष्टि बँध जाती है, वह ? जबरदस्ती जब कुछ सहन करने का अवसर आएगा, तब उस बँधी हुई दृष्टि की प्रतिध्वनि मन पर पड़ेगी ।

(१) सहन करने में लाभ और सत्त्व - विकास है :

अमृत दृष्टि की प्रतिध्वनि यह पड़ेगी कि मन प्रफुल्लित बनेगा, स्फूर्ति का अनुभव करेगा, हलका और बहुत कोमल बन जाएगा ।

इससे विपरीत सहन करने से शोषित और गँवाने का माननेवाली दृष्टि की प्रतिध्वनि मन पर पड़ने के रूप में मन भारी, सुस्त, बेचैन और कठोर बन जाएगा ।

अनिवारणीय, दुर्लंघ्य आपत्ति के आने पर, सहन करने का तो दोनों दृष्टियों वाले करते हैं, परन्तु -

सहन करने, न करने में अन्तर :

(1) जीवन-निर्माण में बड़ा अन्तर पड़ जाता है । अमृतमय दृष्टि वाले का निर्माण अच्छा बनता जाता है । विषाक्त दृष्टिधारी का निर्माण खराब होता जाता है, वैसे ही,

(2) आन्तरिक सुख-दुःख की संवेदना में भी बड़ा अन्तर पड़ जाता है, तथा -

(3) दूसरों की नजरों में भी दृश्य अलग-अलग प्रकार के दिखेंगे । अमृतमयी दृष्टिवाला शान्त दिखेगा, धीर दिखेगा, विषाक्त दृष्टिवाला व्याकुल, दीन, तामसी...आदि-आदि दिखेगा ।

अमीचन्द की बात राजा के मस्तिष्क में नहीं बैठती है, मगर उनकी स्वस्थता, उनका निर्भीक उत्तर और इन सबके पीछे काम कर रही उनकी अमृतमयी दृष्टि राजा पर प्रभाव डालती है। उसका परिणाम देखें।

राजा के दो-चार बार पूछने पर भी जब अमीचन्द ने एक ही उत्तर दिया तब राजा ने कहा: 'तो अब तुम्हें जेल में डालना पड़ेगा। या तो चोरी स्वीकार करो, अन्यथा पता बताओ कि हार कहाँ से आया ?'

रानी का क्रोध :

उस समय रानी अन्दर बैठी सब सुन रही थी। अब उससे रहा नहीं गया और बाहर आकर राजा से बोली: 'क्या जेल की बात कर रहे हैं ? ऐसे बेईमान को तो हाथी के पैरों तले कुचलवा देना चाहिए ! ताकि कभी कोई इस प्रकार के काम न करे।'

राजा कहते हैं: 'धीरज रखो, अभी पूरी तरह से साबित हुए बिना, एकदम से ऐसी सज़ा कैसे दे सकते हैं ?'

'पर क्या यह इसे सीधे-सीधे स्वीकार करनेवाला है ? जब तक इसे हाथी के पैरों तले रौंदा नहीं जाएगा, यह माननेवाला नहीं है, नाक दबाए बिना, मुँह नहीं खोलेगा। इसलिए इस को मैदान में खड़ा रखो और इस पर हाथी छुड़वाओ।'

देखा, कितना अधिक क्रोध ? कैसी क्रूरता ? क्यों ! रानी स्त्री जात है। उसका हीरों का हार खोया है इसलिए बहुत आकुल-व्याकुल बनी थी, अब उसे यहाँ हार मिलता है इसलिए गुस्से का पार नहीं है। परन्तु राजा स्वस्थ हैं, एकदम से विवेकहीन कार्य करना वे नहीं चाहते। स्त्री और पुरुष दोनों में यही तो अन्तर है। ठीक है, स्त्रियाँ भी धीर, सहिष्णु, स्वस्थ होती हैं, मगर ऐसी स्त्रीयें थोड़ी होती हैं। शेष सभी स्वयं के स्वार्थ भंग होने से बेचैन होकर उतावली होनेवाली होती हैं। हम देखते तो हैं कि विवाह के पश्चात् स्त्री घर में कितने सारे झगड़े कराती है ? अधिकांश स्त्रियों में ईर्ष्या, निन्दा, बेचैनी आदि सहज,

स्वाभाविक रूप से देखने को मिलते हैं ।

प्रश्न: स्त्री में दोष क्यों होते हैं ? इसका क्या कारण है ?

उत्तर: कारण यह है कि स्त्रीत्व का कर्म ऐसे अशुभ भावों में बँध जाता है कि उस अशुभ भावना के कारण अन्य अशुभ भावों का परिवार भी उससे आकर जुड़ जाता है ।

एक अशुभ विचार से चारों ओर के कर्म :

यह बहुत ध्यान रखनेवाली बात है कि किसी भी ग़लत कार्य में पड़ने से, कोई भी अशुभ विचार मन में लाने से अथवा मन को बिगाड़ने से, चारों ओर के पाप कर्मों का काफिला तैयार हो जाता है, अर्थात् अनेक प्रकार के पापकर्म बँध जाते हैं । उनमें से एक प्रमुख रूप से उदय में आता है, फिर उस के साथ अन्य कर्मों की फौज़ उतर पड़ती है । जैसे, नरक आयु । इसके उदय में आने से अशाता की सेना उदय में आ जाती है । वेदना, अपमान, अशुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, पराधीनता, भूख-प्यास, क्रोध, मूर्खता आदि कितना सारा पीड़ादायक तैयार होकर हिसाब चुकता करने आ जाता है ! ऐसे ही, यदि गधे का अवतार मिलता है तो उसके साथ अनेकों विडंबनाएँ आयी समझो । ऐसा ही यह स्त्रीत्व है । इसके साथ पराधीनता एवं माया, विषयांधता एवं ईर्ष्या, धन-राग तथा तुच्छ स्वभाव जैसे अनेकों दोष उभर आते हैं ! इसीलिए, कोई भी ग़लत काम, बुरे विचार या कलुषित हृदय करने से पहले अच्छी तरह से सोचना चाहिए; उनसे दूर ही रहना चाहिए ।

रानी को स्वयं के हार से बहुत राग था, साथ ही असूया-द्वेष, भी था । इसलिए अमीचन्द के लिए राजा से कहती है कि 'उसे तो हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाना ही चाहिए ।'

राजा तामसी नहीं है और न निर्लज्ज है इसलिए कहता है: 'ऐसा नहीं हो सकता है । उसे फिलहाल जेल में रखेंगे, स्वीकार नहीं करेगा, तब सोचेंगे । तुम्हें तो तुम्हारा हार मिल गया न ? अब शान्त रहो, न्याय के काम जिस प्रकार से होते हैं, उन्हें उसी प्रकार से होने

दो ।

अमीचन्द जेल में :

अमीचन्द से पुन: पूछा गया, मगर उसका तो एक ही उत्तर था: 'हार मेरा है और मैंने चुराया नहीं है ।' अतः राजा ने उसे अब जेल भेज दिया ।

जेल कैसी है ? :

अँधेरी गुफा जैसी ! जमीन ऊबड़-खाबड़ है, दीवालों में दरारें पड़ी हैं, चमगादड़ उड़ रहे हैं । दुर्गन्ध फैली हुई है । कानों में तीखी चीखें सुनाई दे रही हैं । जेल का भोजन भी हल्के प्रकार का है । संक्षेप में कहें तो पाँचों इन्द्रियों के प्रतिकूल विषयों का वह घर है ! उसी में कभी कभी जैलर अपराध स्वीकार कराने के लिए अमीचन्द को चाबुक भी मारता है ।

कर्मों की कैसी लीला है ? :

मानों घर में कम दुःख आए थे, इसलिए हीरों की ओट लेकर कर्म अब जेल की तकलीफें दे रहा है ! संसार में, कर्मों के ऐसे ही क्रूर नाटक में जीव भयंकर रूप से पिसा जा रहा है । अमीचन्द ने तो, जब वह अमीर था, तब भी कभी कल्पना में भी अभिमान नहीं किया था, फिर भी कर्म उस पर जुल्म कर रहा है । वैसे, मनुष्य घमंड करता है, तो भी उसका गर्व-गुमान कहाँ टिक पाता है ? और फिर चलता भी कितने दिन है ? कर्म का शासन ऐसा है कि बड़ों-बड़ों के गुमान को नीचे उतार देता है !

कर्म कुछ भी नहीं देखता :

जीव की मूर्खता: पुण्योदय पर अभिमान करना : पापानुबंधी पुण्य-कर्म ऐसा है कि वह मन को प्यारी वस्तुएँ देकर उन पर अभिमान करने देता है । जीव मूर्ख है ! वह मिले वैभव, सत्ता, सम्मान पर व्यर्थ का अभिमान कर-करके , नए पुण्य के स्थान पर, उसे नए पाप पैदा

करने में खर्च कर देता है ! इसका यह अर्थ हुआ कि पुराना पुण्य एक बार समाप्त हो जाए, फिर पाप का इतना जोरदार थपेड़ा लगता है कि उसे सिर्फ पछतावा, अपार शोक-उद्वेग का सामना करना शेष रह जाता है ! फिर क्या देखकर वह पहले अभिमान करता है ? उसे क्या पता नहीं है कि इस जगत् में कर्म कैसे-कैसे जुल्म ढा रहा है ? क्या कर्म को रूठने का कोई बहाना चाहिये ? क्या उसके रुठने का कोई मुहूर्त है ? क्या उसकी सूचना हम पाते हैं ? जिस पर उसे रूठना है, क्या वह उसकी जाति-भाँति भी देखता है ? कितनी हद तक कर्म का रोष भभक उठता है ? क्या ऐसा पाप है ? नहीं, इनमें की कोई भी बात नहीं होती, फिर, उसकी थोड़ी-सी कृपा मिलने पर उस पर अभिमान करना निरी मूर्खता ही तो है ।

अमीचन्द के पास तो जब वैभव था, तब भी उसे अभिमान नहीं था, इसलिए इस प्रकार से पछताने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता । अतः इस समय आई करारी विडंबना में भी वह चित्त को अद्‌भूत रूप से प्रशान्त - स्वस्थ रख सकता है । किसी को दोष नहीं देता ! एक ही समझ है, 'संसार में हैं इसलिए समय के प्रवाह में होते इन प्रसंगों को तो देखना ही होगा, जरा-सा भी प्रभावित होना नहीं चाहिए' यही है दृष्टि का अमृत ।

मनुष्य को दुःख में आश्वासन लेने के लिए अमीचन्द का यह दृष्टान्त कितना प्राणवान अवलम्बन है । पूर्व कर्म के दोष के अलावा यहाँ अमीचन्द का और कोई भी दोष नहीं है । हाँ, हीरों का हार रानी का खो गया है, ठीक वैसा ही हार यह है । परन्तु यह अमीचन्द के द्वारा, या उस परदेसी के द्वारा चुराया हुआ या चुराकर संग्रह किया हुआ हार नहीं है । क्यों ? क्योंकि हार का रहस्य आगे प्रकट होगा !

इस प्रकार से अमीचन्द निर्दोष होते हुए भी जेल में ठूँस दिया गया । दुःखों के पहाड़ उस पर टूट पड़े ! फिर भी, उसका सत्त्व ऐसा है कि दृष्टि अभी भी शीतल, अमृतमयी है ! रानी या राजा को दुःखदाता मानने को एवं क्रोध से दिल जलाने को उसका अन्तर तैयार नहीं

होता । वह तो शान्ति से जो घटा है उसे देखते रहने और उसके निमित्त को पाकर

" चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहंते सरणं पवज्जामि

सिद्धे सरणं पवज्जामि,

साहू सरणं पवज्जामि,

जिणधम्मं सरणं पवज्जामि ।"

इसी को बारम्बार भजता रहता है । समझता है कि गद्‌गद स्वर से बार बार अरिहंतादि की शरण स्वीकारने का निमित्त देनेवाले, ऐसे अवसर में ग़लत बात कौन-सी है ? और इस शरण को, क्या दुःख से कायर बनकर स्वीकारना चाहिए ? 'भाई साहब, इस दुःख में से मुझे छुड़ाओ' क्या ऐसी दीनता-भरी याचना करनी चाहिए ? नहीं-नहीं । वह तो अन्तर में राग-द्वेष न उछले, असमाधि न हो, संक्लेश टले, चित्त स्वस्थ और मस्त रहे, इसके लिए भजता है, क्योंकि दुःख तो -

(1) कर्मों की अवधि पूरी हुए बिना जानेवाले नहीं हैं, एवं

(2) अवधि पूरी होने के बाद रहनेवाले नहीं हैं ।

भट्टी की अग्नि के प्रखर ताप में पड़ा हुआ सोना तनिक भी निस्तेज नहीं होता है, बल्कि और अधिक चमकने लगता है । इसी प्रकार से, अमीचन्द का सत्त्व भी जेल और चाबुकों की मार तक के भारी कष्ट में और अधिक जगमगा रहा था । दृष्टि जब विषमय बनती है तब सत्त्व चलित हो जाता है । परन्तु यहाँ पर तो अमृत भरी ही दृष्टि है, तो सत्त्व कैसे चलित हो ?

सत्त्व को स्थिर रखने का महान् उपाय अमृतमय दृष्टि :

अमृत-दृष्टि रखने का एक यह उपाय है कि जब जब दृष्टि में किसी प्रकार का कोई विष फैलता हुआ दिखे, तब तब 'चत्तारि सरणं पवज्जामि' आदि तीन उपायों को करें, ऐसा शास्त्रों का विधान है । दृष्टि के विष को रोकने के लिए जब जब राग-द्वेष के क्लेश आ खड़े हों,

(1) अरिहंत आदि चार की शरण बार बार स्वीकारें।

(2) उसके साथ बार बार, जन्म - जन्मान्तर के स्व दुष्कृतों की गर्हा - निन्दा करें **(३)** परमात्मा से लेकर नीचे तक के सभी महापुरुषों के छोटे - बड़े सुकृतों की अनुमोदना करें।

चित्त के संक्लेश को टालने के तीन उपाय हैं :

१)अरिहंता मे सरणं, सिद्धा मे सरणं, साहू मे सरणं

केवलिपन्नत्तो धम्मो मे सरणं

२)गरिहामि सव्वाइं दुक्कडाइँ, ३)अणुमोएमि सव्वेसिं सुक्कडाईं।

इन तीनों में अद्‌भुत शक्ति है और ये रागादि के संक्लेशों को कम करके दृष्टि के विष को उतार देते हैं। शरण-स्वीकार आदि करने में आसान और श्रम भी नहीं लगता है, तो भी लाभ अपरम्पार हैं। जीवन में इनकी आदत पड़ जानी चाहिए। अभ्यास जारी त्रिकाल तो रखना ही चाहिए, मगर मन में उद्वेग, क्रोध, अहंकार अथवा बहुत अधिक संक्लेशों के आने पर इनका सेवन गद्‌गद भावभीने हृदय से बार बार करें। मानों रटन चले, 'मुझे अरिहंत की शरण है, मुझे सिद्ध की शरण है, मुझे साधु की शरण है, मुझे जैन-धर्म की शरण है, मेरे दुष्कृत मिथ्या हों, महापुरुषों के सुकृत धन्य हैं।' इनकी धारा यदि निरन्तर चलती रहेगी तो फिर कौन-से संक्लेश खड़े रह सकते हैं ? सम्भव है, समूल रूप से न भी जाएँ, तब भी मन्द तो अवश्य ही पड़ जाएँगे। अमीचन्द के पास यह दौलत है, दृष्टि को विषाक्त बनाने का अवकाश नहीं है, अमृतमयी दृष्टि स्थायी है। इसीलिए तो उनका सत्त्व झिलमिला रहा है ! हम ऐसे क्यों नहीं बन सकते हैं, ऐसा सोचें और उत्साहित रहें।

वैसे, अमीचन्द पर मुसीबतें अनेकों आईं हैं। उस पर दया करने के बदले, उसके सत्त्व को धन्यवाद देकर उनकी अनुमोदना-

करनी चाहिए। महान् आत्मा पर दया नहीं की जाती, उनके सत्त्व की अनुमोदना होती है।

जैन भिखारी नहीं होता :

अमीचन्द यहाँ कैद में सड़ रहा है, और उस तरफ घर में जिनमति पर भी बड़ी विपत्ति आ पड़ी है ! घर में खाने को दाना नहीं है। उसने सुना कि पति को राजा के सिपाही पकड़कर ले गए हैं और राजा ने उन पर रानी का हार चुराने का आरोप लगाकर सजा दे दी है। अब वह क्या करे ? मगर पेट क्या कभी छोड़ता है ? एक समय की सेठानी अब लोगों के यहाँ अनाज पीसने आदि के काम करके रोटी की व्यवस्था कर रही है। श्रावक का धर्म माँगकर जीने की बात नहीं कहता है। मँगता बनने में धर्म लांछित होता है। योग्य व्यवसाय करने में लांछन नहीं लगता।

विनयचन्द्र की ईर्ष्या :

तभी दूसरी ओर छोटे भाई विनयचन्द्र को किसी ने जाकर बतलाया कि 'बेचारे तुम्हारे भाई को राजा ने जेल भेज दिया है, तो तुम जाकर उन्हें छुड़ाओ।'

तब विनयचन्द्र ईर्ष्या और द्वेष से सुलगकर कहता है, 'इसमें मैं क्या कर सकता हूँ ? चोरियाँ करनी हैं और लो, अब जाकर भाई को छुड़ाऊँ ! उल्टे-सीधे काम करते समय विचार नहीं आता है ?'

वह कहता है: 'अरे ! पर तुम्हारा भाई चोरी करे, ऐसा नहीं है।'

'यह तुम्हें कैसे मालूम ? तुम उन्हें पहचानते नहीं हो। कहते तो हैं न कि गिरती अवस्था में मनुष्य की बुद्धि भी पतित हो जाती है, बिगड़ जाती है।'

'होगा वह, परन्तु एक भाई के रूप में तो दया करके उसे छुड़ाओ।'

'मैं उन्हें छुड़ाने जाऊँ और राजा मुझसे बोले कि आओ, चोर का भाई घंटीचोर, बैठ जा जेल में, तब फिर मैं क्या करूँगा ? मेरे इन बच्चों-पत्नी का क्या होगा ?'

वह बोला: 'पर इस भाई ने तो तुम्हें बचपन से पालकर बड़ा किया है, ठिकाने लगाया, तब भी तुम कुछ नहीं करोगे ?'

'करेंगे, सब कुछ करेंगे, मगर भाई भाई-चारे में हो तब न ? भाई ने बड़ा किया यह तो देखते हो, मगर उनके काले नाग-जैसे दिल का आपको पता है ?'

देखा, पापी हृदय के कितने सारे बचाव हैं ? अमीचन्द ने चोरी नहीं की है, वह काले नाग जैसा था नहीं, और है भी नहीं, फिर भी छोटे भाई के दिल में पाप भरा है, ज़हर भरा है, उसकी दृष्टि में अमृत नहीं है, विष व्याप्त हो गया है, इसलिए उसे उल्टा सूझता है ! चोरी का आक्षेप लगा रहा है । कलंक चढ़ा रहा है ! महान् उपकारी भाई को ज़हरी नाग जैसा कह रहा है ! स्वयं के स्वार्थ को ही सामने रख रहा है । ज़हरीली नज़र जितने कुकर्म न करावे, वे कम हैं । जितनी दुष्ट वृत्तियाँ न विकसावे उतनी कम हैं !

अमृतमय दृष्टि के मनोरम परिणाम :

यदि नज़रों में अमृत होता तो राजा के पास दौड़कर जाता, चाहे जैसे उन्हें समझाता, जुर्माना देकर, पहचान निकालकर भाई को छुड़वाता । यदि यह भी नहीं बन पाता तो कम-से-कम कलंक तो नहीं चढ़ाता और अपने महा उपकारी तथा स्नेही भाई की बुराई नहीं करता, माँ-जैसी जिनमति को राहत दिलाता ।

अमीचन्द की दृष्टि अमृतमय है, इससे उसे अभी शायद किसी ने पूछा होता कि 'यह तुम्हारा भाई, तुम्हें छुड़ाने के लिए कुछ कर क्यों नहीं रहा है ?' तो वह कहता कि: 'क्या कर सकता है ? यह तो स्वयं राजा के प्रति किये गये अपराध का मामला है । इसमें वह क्या कर सकता है ? किसी की इसमें कुछ नहीं चलती । वह बिचारा इसमें बीच

में न आवे तो ही ठीक है । नहीं तो शायद उसके परिवार पर भी आफत आ जाती, और उसका कुटुम्ब भी तो मेरा ही है न ? अतः उस पर विपत्ति न आयी, यही ठीक है ।'

दृष्टि के विष और अमृत के बीच का अन्तर :

दृष्टि को अमृतमय बनाए रखने से कोई कमी नहीं आती ! और ज़हरीली रखने से कोई कमाई नहीं हो जाती, फिर क्यों दृष्टि में अमृत के बदले ज़हर को भरे रखें ?

अमृत तो हृदय को स्वच्छ और आत्मा को फूल-सा हलका रखता है ।

ज़हर से हृदय मलिन एवं आत्मा बोझिल रहती है ।

जीवन अच्छा या बुरा कहलाएगा अमृत भरी या ज़हर भरी दृष्टि के कारण, केवल बाह्य क्रिया पर नहीं ।

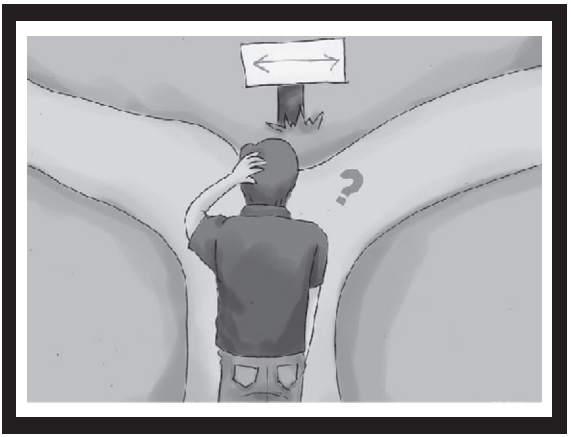

15. रानी और राजा में बदलाव

अमृत द्वारा सज्जनता :

विषाक्त दृष्टि के द्वारा हृदय कचोटता है और अन्त में क्लेश का पार नहीं रहता । सज्जनता और दुर्जनता का मापदण्ड, दृष्टि के अमृत और विष पर निर्धारित रहता है । हमारी दृष्टि कैसी है, इस पर से 'हम कैसे हैं, सज्जन या दुर्जन ?' इसका निर्णय किया जाता है । दिखने में अच्छा कार्य करने मात्र से हम सज्जन नहीं कहलाएँगे । वेश्या ग्राहक के साथ बहुत ही विनयपूर्ण बर्ताव करती है, तो क्या वह सज्जन है ? धर्म खाते में पैसे दान करे, परन्तु संघ के ट्रस्टी पद को पाने के लिए ही, तो क्या वह सज्जन है ? यदि दृष्टि अमृत भरी हो, तो ही सज्जन कहे

जाते हैं । सिर्फ सज्जन बनने के लिए भी नज़रों में अमृत चाहिए, तो अच्छा धर्मात्मा बनने के लिए तो दृष्टि में अमृत चाहिए ही, भला इसमें पूछने की क्या बात है ?

धार्मिकता का दावा अमृत दृष्टि पर :

धर्मात्मा, धर्मप्रिय, धर्म श्रद्धालु होने का दावा लेकर घूमते हैं, तो यह जाँचना जरूरी हो जाता है कि उनकी दृष्टि में मात्र अमृत ही बह रहा है न ? कि ज़हर बहता है ?

धर्म पर श्रद्धालु अर्थात् :

संसार की दुःखद एवं विचित्र स्थिति को निरन्तर दृष्टि के सामने रखनेवाला ।

कर्म के अटल सिद्धान्त को तनिक भी न भूलनेवाला ।

देव-गुरु-धर्म को ही सच्ची शरण मानकर स्वीकार करनेवाला ।

आत्मा के आन्तरिक शत्रु काम-क्रोध-लोभ आदि से बहुत अधिक डरनेवाला, ऐसा व्यक्ति दृष्टि में विष कैसे रख सकता है ?

गंदगी की हद, अधमता की नहीं :

रानी के द्वारा तूफान खड़ा करने के बावज़ूद, राजा ने वैसी क्रूरता न करते हुए अमीचन्द को सिर्फ जेल भेज दिया । और यहाँ, विनयचन्द्र निष्ठुरता दिखा रहा है । गलत धारणा कि 'भाई ने चोरी की है, तो फिर वे कैसे भाई ? और मैं क्या कर सकता हूँ ?' दृष्टि में जो विष है, उसी का यह सब प्रताप है । वह भी इतना अधिक है कि उसकी पत्नी तारा और उसके द्वारा उकसाया गया वह, दोनों मन-ही-मन खुश हो रहे हैं कि 'उन्होंने हमारे साथ बहुत बुरा किया था न, अब उसका फल मिल रहा है !' अधमता की हद है ? गंदगी की तो सीमा होती है, मगर अधमता की नहीं । इस पर से सावधान रहने जैसा है कि मूल दृष्टि में हि ज़हर नहीं आने देना चाहिए । विष घोलने के बाद कैसे दुष्ट वाणी-विचार-बर्ताव होंगे यह पहले से पता नहीं चलता ।

अमीचन्द जेल में पड़ा परमात्मा को ही याद कर-करके उनकी

शरण स्वीकार रहा था । समझता था कि 'इस उत्तम जीवन के योग्य यह कार्य है । घर में बैठकर, अनेकों सांसारिक झंझटों में फँसकर, इतना भगवत् स्मरण नहीं हो पाता था, तो इसे करने का यहाँ सु-अवसर मिला है । उसमें भी दु:ख और विपरीत परिस्थितियाँ; ये ही तो भगवान् के साथ हृदय को जोड़ने की सीधी कड़ियाँ हैं, क्योंकि दु:ख में प्रभु बहुत याद आते हैं । दु:ख में दुनिया साथ नहीं देती, भगवान् ही सगे बनकर साथ देते हैं । यह तत्त्व विचार ही उत्तम प्रकार का आश्वासन और आलम्बन हैं । यह जेल को भी भगवद् स्मरण करने की अनुकूलता का ही एक प्रकार मैं मानता हूँ ।'

अमीचन्द की प्रार्थना :

इसी बीच, राजा के कहने से जेलर अमीचन्द को धमकाता है, कोड़े भी लगाता है, भूखा भी रखता है, मगर इन सब के बीच भी अमीचन्द की शीतल दृष्टि इन सभी परिस्थितियों के मूल कारण को देखने की ओर है । इसलिए उसे अपने किए पूर्व जन्म के पाप और उन्हें करनेवाली स्वयं की पापनिष्ठ आत्मा ही ध्यान में आती है । पाप एवं स्वयं की, पापी आत्मा की निन्दा करते हुए वह भगवान् से एक ही प्रार्थना करता है कि 'हे नाथ ! इतनी कृपा करना कि अब, यहाँ मेरा मन मलिन न हो, पाप एवं पाप - बुद्धि से मित्रता न हो, और इस भले राजा पर मैं जरा-सा भी क्रोध न करूँ । इस अटल परिस्थिति के लिए न शोक करूँ और न उद्वेग । ये कष्ट तो मेरे पूर्व किए पापों का मल निकाल रहे हैं ।'

ग्यारहवाँ अमृत : मूल कारण एवं वस्तु - स्थिति को ही देखें :

अपनी दृष्टि में मूल को देखने का ध्येय रखना, वास्तविक वस्तुस्थिति पर ध्यान को एकाग्र करना ही अमृत है । ऐसे अमृत की बलिहारी है । मूल कर्म और उन्हें पैदा करनेवाली स्वयं की पापी आत्मा का ही विचार करना चाहिए । ऐसी परिस्थिति में दु:ख एवं प्रतिकूलताएँ तो निश्चित एवं अनिवारणीय हैं ही, मगर 'उनके कारण पाप-कर्म भोगे जाकर समाप्त हो जा रहे हैं, यही वास्तविक स्थिति है,

और साथमें, भगवत्स्मरण का अवसर भी मिलता है' इस प्रकार के उद्देश्यवाले का चित्त कितना अधिक स्वच्छ और स्वस्थ तथा हृदय कितना हल्का रहता है ! अमीचन्द यह अनुभव कर रहा था ।

तभी, ज़हरीली दृष्टिवाला विनयचन्द्र द्वेष, ईर्ष्या, अभिमान आदि की आग में सुलग रहा था । लक्ष्मी के उन्माद से दबा जा रहा था । उसका मन अस्वस्थ और मलिन था और हृदय में बोझ रहा करता था । जीवन को तो दोनों ही भाई जी रहे थे, मगर एक उसे जीकर अमरत्व की ओर कदम बढ़ा रहा था, और दूसरा; मृत्यु की परम्परा की तरफ !

अमरता, मत्युशीलता के कारणः कब आती है अमरता ?

जन्म-मृत्यु की परम्परा की होली सुलगानेवाले, जगत् के जड़ पदार्थों की एकात्मकता की चिनगारियों को बुझाया जाय, गौण किया जाय, तो अमरता आती है ।

जड़ के साथ एकाकार बनो, तन्मय रहो और उसी को सर्वस्व मानो, इससे जड़ कायाओं में एकाकार होना सुनिश्चित हुआ ही समझो ! उनमें मिलना तो मृत्यु है ही । उससे हृदय को अलग करने से ही वह पीड़ा मिटेगी और अमरत्व सुलभ हो जाएगा । साफ - साफ हिसाब है, जड़ से जड़, चेतन से चेतन, जड़ से मिलेंगे तो जड़ काया के सम्बन्ध स्थापित होंगे, और यदि चेतन आत्मा में आकर स्थापित होंगे तो चेतन का स्व-स्वभाव, अमरता प्रकट होगी ।

अमीचन्द जैसी ही उसकी पत्नी जिनमति की समझ है । दुःख के दिन काट रही है, कोई पति को छुड़ानेवाला नहीं दिख रहा है । यह सब होने पर भी उसने भगवान् के चतुःशरण और स्मरण को बनाए रखा है । बाल्यावस्था से पाल-पोसकर बड़ा किया विनयचन्द्र कैसी - कैसी अशिष्ट बातें बोल रहा है, यह उसके कानों में पड़ रहा था, फिर भी उसे उस पर दया आ रही थी: 'बेचारा, पाप न बाँधे तो अच्छा होगा । अन्यथा लक्ष्मी तो एक दिन उड़नेवाली है ही, फिर बेचारे की

कितनी बुरी हालत होगी ! हमारे ये दिन तो हमारे ही अशुभ के उदय से आए हैं, मगर उसका तो भला ही हो' अमृतमयी दृष्टि ही ऐसी भावना उपजा रही थी ।

मगर तारा की दृष्टि इससे विपरीत है । जेठानी की जितनी बुराई - निन्दा हो सकती है, वह करती है । दिल में द्वेष को भरे रखती है । दृष्टि में विष घोलने के बाद कौन कौन से अकार्य नहीं होते हैं ?

तारा शहर की पढी - लिखी कन्या है और जिनमति गाँव की सामान्य सीखी हुई कन्या ! कौन बहेतर है ? आज तो पागलपन सवार हो गया है कि शहर की कॉलेजियन कन्या ही चाहिए, गाँव की अनपढ़ कन्या का क्या करेंगे ? परन्तु यह मान्यता गलत है ।

शिक्षण से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं संस्कार :

जिसके संस्कार अच्छे हैं, वही मनुष्य है । वे यदि नहीं हैं और सिर्फ शिक्षण है, तो वह पशु है । वैसे तो क्या सर्कस के जानवरों को भी प्रशिक्षण नहीं मिलता है ? मगर उनमें मानवता का संस्कार नाममात्र भी नहीं होता । इसीलिए अकेली शिक्षा की कोई कीमत नहीं है । जिनमति देहात की होते हुए भी, संस्कार भरा जीवन बिता रही थी । तारा शहर की होते हुए भी संस्कार विहीन जीवन जीती थी । उसके माँ - बाप ने शायद उसे भी अच्छे संस्कार दिए होंगे, परन्तु ज़हर भरी दृष्टि ने उसमें सभी कुछ रद्दो-बदल कर दिया था । इस समय तो बड़ी सेठानीपन के अहंकार में, अभिमान में, वह उन्मत्त बनी हुई थी ।

काल / कर्म का तमाचा :

किन्तु काल संसार में सब कुछ एक समान कहाँ चलने देता है ? परिवर्तन लाता ही है । शास्त्र कहते हैं, आकाश - जैसे मुक्त, निर्लिप्त, नित्य पदार्थ में भी समय - समय पर, काल के कारण, परिवर्तन होते रहते हैं । इसी प्रकार से कर्मों में भी परिवर्तन की अदम्य शक्ति दिखाई देती है । एक बार ऊँचाई पर चढ़ बैठे जीव भी कितने अधिक नीचे उतर गए हैं ! और नीचे के ऊपर चढ़ गए हैं ! भले-चंगे

बीमार हो गए और बीमार अच्छे हो गए, प्रतिष्ठित बे-आबरू हो गए और बे-आबरु प्रतिष्ठित हो गए । यह सब परिर्वतन कौन लाता है ? कर्म । काल (= समय) और कर्म के झकोरों के सामने पराधीन होकर रहना पडता है । इसलिए पुण्य का उदय होने पर कुछ ठीक मिलने पर अभिमान करना और उस पर विश्वास रखना मूर्खता है; मूढ़ता है ।

पाप - बीज की बुआई, अनुबन्ध एवं शल्य :

अब यहाँ जबरदस्त परिवर्तन आता है । अमीचन्द को छह महीनों तक तो जेल का कष्ट भोगना पड़ा । द्वेषी रानी; राजा को बार - बार तंग करती और पूछती: 'उस कैदी ने अपराध स्वीकार किया या नहीं ? नहीं तो उसे गोली मार दो, फाँसी पर चढ़ा दो, हाथी के पैरों तले कुचलवा दो ।' स्वयं का हार तो मिल गया था, फिर भी कितना द्वेष ? द्वेष, बैर, विरोध चीज़ ही ऐसी है कि निर्दयता, हिंसा, अपमान, द्रोह, कृतघ्नता आदि के विचार मन में आते हैं ! शायद उससे मिले कुछ भी नहीं, फिर भी मन व्यर्थ की बातों में उलझा रहता है । हल्के, नीच भाव मन में जगाया करता है । उनके संयोग से कर्मबन्ध बहुत भयानक होते हैं और पाप का अनुबंध अर्थात् बीजारोपण होना भी सम्भव है, क्योंकि जीव बैर - विरोध करता है, इन्हीं सब को सोचकर । इसलिए जब वह इतने सारे निर्दय भाव करता है, उस समय उसे नहीं लगता कि वह कोई अनुचित कार्य कर रहा है ! अतः पाप के अनुबंध पड़े, यह स्वाभाविक ही है । अगणित पापों को बाँधना एवं अनुबंध से पापवृत्तियों को दृढ़ करना, उनका परिणाम अगले भव में कैसा होगा? अनुबंध याने उत्पादन योग्य बीजशक्ति ।

वैर - विरोध का भयंकर शल्य :

और यहाँ भी क्या है ? वैर - विरोध का काँटा हृदय को ठीक प्रकार से धर्म साधना नहीं करने देता; वह वैर - विरोध मन में आ - आकर अनेकों दुष्ट विचार लाता है ! मलिन इच्छाएँ उत्पन्न करता है ! जीव को आकुल - व्याकुल कर देता है ! इसलिए यह बहुत बड़ा शल्य है ।

विरोध से अन्य भव में कौन - सी कमी रह जाती है :

वैर - विरोध का शल्य बहुत अधिक खतरनाक है । यदि भविष्य में सामनेवाला जीव किसी ऊँची आत्म - सीढ़ी पर चढ़ गया तो उस जीव से दुनिया को धर्म की प्राप्ति होगी । मगर इस विरोध के काँटे को रखनेवाला, तब भी वहाँ इस महात्मा के सामने अपने वैर को प्रकट करेगा ।

देखो, महावीर भगवान् ने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में जिस शेर को मारा था; उस शेर के मन में विरोध का शल्य रह गया था । इससे वह भवों के चक्कर काटकर जब यहाँ सुदंष्ट्र देव और उसके बाद किसान बना, तब भी भगवान् के प्रति द्वेष और वैर दिखाना ही उसे आया ! कितनी बेहूदी बात है ! जब भगवान् के द्वारा सारे जगत् का उद्धार हो रहा था, कल्याण हो रहा था, ऐसे में यह पूर्व के द्वेष की नींववाले, अभागे किसान के दिल में दुर्भाव जागा कि 'ये गुरू ? हट् ! नहीं चाहिए !' तो जो पहले गौतम महाराज के उपदेश सुनकर साधु बन गया था, वह फिर से साधुपन छोड़कर भागा ! कितनी हीनभाग्यता है यह ?

द्वेष भरी तारा की भी यही स्थिति है ।

सौम्यस्वभावी जिनमति के गुण सारा संसार गाता है, मगर तारा को उसके प्रति गुस्सा दिखाने का मन होता है !

जेल में भी अमीचन्द की विशेषता :

रानी के दिल में भी हार के चुराए जाने का द्वेष है, क्रोध है, खुन्नस है । इसलिए वह अमीचन्द को मार डालने के लिए राजा को तंग करती रहती है ! मगर राजा सयाना है, धीर है; वह बात को तूल नहीं देता है । अमीचन्द जब तक स्वीकार न करे, तब तक वह ऐसा कोई भी कड़ा कदम उठाना नहीं चाहता । मर्द तो आखिर मर्द होता है ! स्त्री, स्त्री है । मगर, जब-तब जेलर के माध्यम से उसे धमकाती रहती है । अमीचन्द सब शान्तिपूर्वक सहन कर लेता है, 'हार साधर्मिक

के पास से आया है' उसे यह नहीं कहना है, तो नहीं ही कहा । घर में पत्नी दुख पा रही है, और स्वयं भी यहाँ जेल के कष्ट पा रहा है । मगर साधर्मिक को विपत्ति में नहीं डालना है, तो नहीं ही डालना है ।

बारहवाँ अमृत : धर्म-धर्मी अंगों पर आत्मीयता :

कहाँ है अधिक आत्मीयता ? साधर्मिक पर ? या सगी पत्नी पर ? या स्वयं पर ? साधर्मिक पर; यह भी एक अमृत है ।

धर्म से आत्मीयता की भावना, यही अमृत है, शेष विष :

धर्म और धर्मी पर हृदय की आत्मीयता उतर आयें और मन को ऐसा प्रतीत हो कि 'मेरी वस्तु है धर्म और धर्म के अंग । उनके विकास में ही मेरा विकास है एवं इनकी हानि में मेरी हानि !' धर्म और धर्म के अंगों को धक्का मारने से हम स्वयं को धक्का मारते हैं ! शेष स्त्री-कुटुम्ब, धन-दौलत, यह कुछ भी मेरा नहीं है । उसकी खुशहाली में मेरा विकास नहीं है, और उसके कुम्हलाने से मेरी हानि भी नहीं है । ठीक है, ये सब जीवन में जब आ मिले हैं, तो योग्य व्यवहार करना चाहिए, बस इतना ही । शेष सम्बन्ध (= अपनापन) तो धर्म और धर्म के अंगों के साथ ही है । धर्म स्थान, धर्म शास्त्र, धर्म - संस्थायें, धर्म साधनायें, चतुर्विध संघ, परमात्मा, मन्दिर; ये सभी मेरे अपने हैं, सगे हैं, इसी बात को मान्य रखना चाहिए । अमीचन्द में यह है । इसे दृष्टि का अमृत कहते हैं; जबकि इसका विपरीत विष होता है ।

मोहान्ध, स्वार्थी रिश्तेदारों को अपना मानना, संघ - साधर्मिक को पराया मानना; पैसा, घर, दुकान, कमाई ये तो अपने हैं और मन्दिर, उपाश्रय धर्म खाता, पाठशाला, धर्म - साधना - ये अपने नहीं हैं, संघ के हैं; यह विभाजन करनेवाली दृष्टि ही विषमय दृष्टि है ।

इनका अन्तिम हिसाब भी ऐसे ही दर्दभरे हालातों में चुकाना पडता है । विनयचन्द्र और तारा के पुण्यों के दिन अब समाप्त हो चले थे, दृष्टि का विष अब फूट निकलने की तैयारी में था ।

इस ओर, अमीचन्द की अमृतमयी दृष्टि राजा को हार देनेवाले

साधर्मिक का नाम बताने से रोक रही थी । इससे वह जेल में कष्ट भोगे जा रहा था । इस प्रकार से छह महीने बीत गए ।

रानी को स्वयं का हार मिल जाता है :

यहाँ, अब रानी अपने सारे जवाहरातों का लेखा - जोखा करके उनकी सूची बनाती है, तो उसे अपने खज़ाने के एकदम नीचे, उस हीरे के हार का डिब्बा मिलता है । उसे खोलकर देखते ही वह अवाक् रह जाती है । उसमें वह हार ज्यों-का-त्यों मिल जाता है ! पर उसने तो वह हार गले में पहन रखा है, यह हार भी बिल्कुल उसी के समान है !

रानी का पश्चात्ताप :

देखकर उसे विस्मय हुआ कि 'अरे ! उस बनिए के पास से मिला हार और यह हार, दोनों एक ही प्रकार के हैं । एक ही बनावट के ! यह क्या ? मानों एक खदान के दो एक-जैसे रत्न हों ! और एक ही कारीगर के बनाए, ये दोनों हार हों ! फिर मैंने उस बेचारे बनिए के साथ क्या किया ? उस पर इतने सारे जुल्म किए ! हमारे पास राजसत्ता है, उसके बल पर क्या हमें इस प्रकार से निर्दोषों को पीड़ा देनी चाहिए ? कैसी अपवित्र है यह राजसत्ता ! यह इस प्रकार से जाने - अनजाने में, न जाने कितने पाप कराती होगी ? धिक्कार है मुझे कि मैंने इस निर्दोष को भयंकर विडंबनाएँ (पीड़ाएँ) दी हैं । इस पर, मैं तो उसे हाथी के पैरों तले रौंदवाना चाह रही थी ! वे मेरे कितने नीच, क्रूर विचार थे ? हे प्रभु ! मेरा क्या होगा ? यह भयंकर पाप मुझे कैसी दुर्गति में ले जाएगा !'

रानी के पछतावे का पार नहीं था । निर्दोष अमीचन्द के छह महीनों के जेल के कष्ट नेत्रों के सामने आते ही उसकी आँखें भर आईं । पश्चात्ताप की मारी वह चौधार आँसू बहाने लगी ।

इतने में वहाँ दासी आई, रानी को रोता हुआ देखकर पूछा:

'क्यों रो रही हों ?'

वह दासी से क्या कहती ? उल्टे उसके पूछने से, अमीचन्द के छह महीनों के कष्टों के करुण चित्रों के स्मरण ने उसे और विह्वल कर दिया ! अतः वह और वेग से रो पड़ी । मन को मानों यह लग रहा था कि छाती पीटने लगूँ ! सिर फोड़ लूँ ! मैं ही हाथी के पैरों तले रौंदी जाऊँ !

दृष्टि में अमृत: किसीका भी न बिगाड़ूँ :

रानी आर्य देश की है । अब तक गलतफहमी के कारण दृष्टि विषमय हो गई थी । मगर सच्ची बात जानते ही, समझ भी सीधी हो गई । दृष्टि में अमृत उभर आया । अमृत यह कि निर्दोष को कष्ट कैसे दे सकते हैं ? मानव जीवन में दूसरों का हित करने की बात तो दूर, उल्टा क्या उसका बिगाड़ना चाहिए ? किसी का अपने आप बिगड़े, उसमें भी खुश नहीं होना चाहिए, तो फिर स्वयं उसको दुःख पहुँचाना, यह तो भला कैसे किया जा सकता है ? किसी का भी नहीं बिगाड़ना, किसी को भी कष्ट न पहुँचाना और स्वयं कष्ट पाये, तो खुश नहीं होना; यही सिद्धान्त अमृतमयी दृष्टि है ।

रानी में अब यह दृष्टि जाग गई है । उस पर अपने किए हुए दुर्व्यवहारों के प्रति वह भारी सन्ताप का, पीड़ाओं का अनुभव कर रही है । दासी पुनः पूछती है, मगर वह कुछ नहीं बोलती । इसलिए दासी उठकर राजा के पास जाकर बात बताती है, इस पर राजा रानी के पास आता है ।

पूछता है: 'क्यों, इतना रो रही हो ?'

रानी के हृदय की बेचैनी थमी नहीं, वह और अधिक रोने लगी ।

राजा भी गद्‌गद् हो गया, बोला: 'कभी तुम्हें रोते नहीं देखा, आज इतना अधिक रोने का क्या कारण है ?'

राजा के सामने स्पष्टीकरण :

इस पर रानी कहती है: 'मेरे से एक बहुत बड़ी भूल हो गई है । अपना हार चोरी नहीं हुआ था । आज से छह महीने पहले, मेरे हाथों से उसका डिब्बा, अलंकारों के पिटारे में बिल्कुल नीचे रख दिया गया था और मैं उसे रखकर पूरी तरह से भूल गई थी ! फिर, अन्य स्थानों में खोजने से जब वह नहीं मिला इसलिये मैंने शिकायत की कि मेरा हार चोरी हो गया है । मगर आज, जब सब जगह मैं तलाश रही थी, तो मुझे वह बॉक्स और हार मिल गया ! मैंने उस बेचारे बनिए को व्यर्थ ही में दंड दे दिया है ! उसका हार तो यह यहाँ अलग ही रखा है । मुझ पापिन ने ऐसा क्रूर विचार भी किया कि उसे हाथी के पैरों तले रौंदवा दें । छह - छह महीनों से वह बेचारा अँधेरी जेल में व्यर्थ ही दु:ख भोग रहा है ! इस पाप से मुझे किस जन्म में छुटकारा मिलेगा ? मुझे कैसी दुर्गतिपूर्ण वेदनाएँ सहनी पड़ेंगी !... इस प्रकार के विचारों से मेरे दिल के टुकड़े - टुकड़े हो रहे हैं । लग रहा है जैसे मैं सिर पीट - पीटकर छाती पीटूँ... ऐसा बोलते - बोलते रानी पुन: रोने लगी ।

16. राजा की भव्य तत्त्ववाणी

भूल की जड़ को देखो :

रानी का स्पष्टीकरण सुनकर राजा को हुआ कि 'हाय ! मेरे हाथों से यह कैसा अन्याय हो गया !' मैंने भी खज़ाने में पूरी तलाश नहीं कराई और वणिक को सजा दे दी !' और वह रानी से कहता है:

'देवी, अब शान्त हो जाओ। गलती तो मेरी भी है। अब उस गलती को अच्छी-से-अच्छी तरह से सुधार लेना चाहिए। मगर सोचने लायक तो यह बात है कि यदि हम जड़ पदार्थों से मोह न रखते, तो वस्तु के चोरी होने पर भी हमें कुछ होता ? संसार में अनेकों वस्तुएँ चोरी हो जाती हैं, मगर हम कहाँ उन सब के पीछे सन्ताप करते हैं ? वह तो हमारी वस्तु चोरी हुई थी इसलिए धमाधम की ना ? ये जड़

पदार्थ हैं ही इतने विलक्षण कि वे मूढ़ जीवों को ममता करा कराकर, उनके लिए काले पाप और भयंकर दु:ख खड़े कर देते हैं । जड़ पदार्थों पर यदि ममता न होती तो जगत् के जीव पापों से बचकर कितने अधिक पवित्र और सुखी होते !'

इस मनुष्य भव को ही सुधार लो :

'इसलिए हे देवी ! शिक्षा तो यह लेनी है कि दुष्कृत्य के आचरण का मूल, जड़ का मोह है; उसी को नष्ट करना चाहिए । उसे यदि यहाँ नष्ट नहीं करेंगे, तो परलोक में तो जीव की दुर्दशा ही है । फिर वहाँ तुच्छ, अति तुच्छ वस्तु पर भी मोह हुआ ही करेगा । दिखता ही है कि पशु, पक्षी, कीड़े - मकोड़े आदि को कूड़े - कर्कट जैसी वस्तुओं से भी, कितना अधिक मोह होता है ! उनके पीछे वह कितनी पापमय दौड़ - धूप करता है ! फिर उस मोह के कारण वह बुरे प्रकार से दु:ख पाता है, मरता है ! फिर भी, मोह तो बना ही रहता है । इसलिए निम्न कोटि के दुखदायी भवों की मोहभरी परम्परा आरम्भ होती है ! अतः इसी जन्म में मोह का निवारण कर लेना चाहिए ।'

मोह के संस्कारों की हर भव में प्रतिध्वनि :

'हे भगवती ! यहाँ की जड़ वस्तुएँ छूटती जाती हैं, उनकी स्मृति परलोक में नहीं होती; परन्तु उनके पीछे यहाँ किए हुए मोह, राग, आसक्ति के गहरे संस्कार पर आत्मा पर दृढ़ता से जुड़े रह जाते हैं । वे परलोक में अपना कार्य किए बिना कैसे रहेंगे !'

'हे सुबुद्धि ! परलोक में मोह - संस्कार की भारी प्रतिध्वनि पड़ती हैं ।' अतः वहाँ कर्मों के अनुसार जैसा शरीर तथा अन्य सामग्री मिली होती है, उन पर वे संस्कार काम करते ही हैं । यहाँ बँगला मिला था, इसलिए बँगले पर बहुत मोह किया तो वहाँ यदि पक्षी बने हैं तो तिनकों से बने घोंसले पर भी वैसी ही मोहिनी बनी रहेगी ! यहाँ घेवर - पूरी मिली थीं और बहुत अच्छी लगी थीं तो वहाँ सूअर बनने पर विष्टा पर बहुत मोह होने ही वाला है !

'हे सुशीला ! मोह की मात्रा मुख्यतया संस्कार के अनुसार ही रहनेवाली है, सामग्री के अनुसार नहीं ।'

जन्म कौन - सा मिलेगा और उसमें सामग्री कैसी सही गलत मिलेगी, इसका आधार तो पूर्व जन्म की अच्छी-बुरी जीवन करनी एवं जीवन - सरणी पर है, धर्म एवं पाप के झुकाव पर है, गुणक्ता पर भी है । परन्तु यह मिलने पर बाद में कितना मोह होता है; राग, द्वेष, ईर्ष्या,असूया आदि कितने स्फुरित होते हैं, इसका आधार 'सामग्री कैसी मिली है' इस पर नहीं, बल्कि पूर्व जन्म में मोह - रागादि को कितना पाला था, संरक्षण दिया था, और उनके कैसे संस्कार स्व आत्म घर में दृढ़ बनाए थे, उस पर है । यहीं क्या नहीं दिखता है कि जिसके भाग्य में रोटियाँ ही लिखी हैं उसका मोह रोटियों पर है और जिन्हें पक्वान्न मिले हैं, उनका मोह पकवानों पर ही रहता है । झोंपड़ी वालों को झोंपड़ी पर और बँगलेवाले को बँगले पर, मोह और उतनी ही ममता होती है ! बस, इसी प्रकार से परलोक के लिए भी समझना चाहिए । जैसी माया, मूर्च्छा, राग, द्वेष, अज्ञान - मूढ़ता आदि को लेकर हम यहाँ से जाएँगे, ऐसा ही, अरे ! सम्भव है उससे भी कई गुनी अधिक मात्रा में माया - मूर्च्छा आदि परलोक में जोर मारेगी !

'अतः हे पुण्यवती ! सोचकर देखो कि जड़ वस्तु के खोने से क्या कोई बड़ी हानि होती है ? या उसके पीछे जो मोह - मूढ़ता को दृढ़ बनाया जाता है, वह बड़ा नुकसान है ?'

राजा ने भव्य तत्त्ववाणी सुनाई । रानी कोमल, गद्‌गद और पश्चात्ताप से भरी तो बन ही गई थी, अतः ऐसी वाणी झेलने की योग्य पात्र बन चुकी थी; इसलिए एकाग्र चित्त से यह सब सुन रही थी । राजा के एक - एक मूल्यवान शब्दों को वह आत्मा में उतार रही थी । उनका शाब्दिक चित्र वह दृष्टि के सम्मुख खड़ा कर रही थी, स्वयं के जीवन के साथ वह घटित कर रही थी ! इससे उसका मन पहले से भी अधिक विलोड़ित हो गया था । बोलो, क्या आपका हृदय भी मथ गया है ?

उपदेश को दूसरों पर लागू करने से क्या मिलेगा ? :

मैं आपसे पूछता हूँ, वीतराग की वाणी सुनने को मिले उससे आत्मा पर प्रभाव या दिल का मंथन क्यों नहीं होता ? 'वह तो महाराज ने अमुक के लिए कहा था' 'यह तो अमुक पर सटीक बैठता है' मगर क्या आप पर भी कुछ कुछ लागु पड़ता है कि नहीं ? स्वात्मा में कुछ लेना या नहीं ? खुद के पास पच्चीस हज़ार की पूँजी है और व्याख्यान में श्रीमन्तों के उत्तरदायित्व की बात आई तो झट से ५ - ५० लाख वाले के हिस्से में इन उत्तरदायित्वों को डाल देंगे ! और अगर सामान्यो के कर्तव्य की बात आई तो वो पांच हजार वाले के हिस्से में डाल देंगे । क्या स्वयं के खाते में से भी कुछ निकालना है ? पिता के कर्तव्यों की चर्चा चली तो स्वयं के बाप को क्या करना चाहिए, या करना चाहिए था, वह तो सोचेंगे; अगर पुत्र के कर्तव्य की बात आने पर स्वयं के पुत्र पर उसे लागू करेंगे ! स्वयं तो जैसे न किसी के पुत्र हैं और न बाप ! और बननेवाले भी नहीं हैं, तो स्वयं पर कहाँ से चरितार्थ होगा ?

प्रश्न यह है कि उपदेश का प्रभाव क्यों नहीं पड़ता ? क्यों स्व-आत्मा पर लागु नहीं होता और हृदय मथ नहीं जाता ? व्याख्यान करनेवाला यदि निष्णात है, रसभर और उदाहरणों - तर्कों से बात को पेश करता है, तो रसपूर्वक उसे सुना तो जाएगा, खुशी भी होगी, दूसरे दिन भी सुनने को दौड़ते हुए आएँगे - सब सच है, मगर क्या सचमुच मन विलोड़ित होता है ? इतना ही सोचो । यदि ऐसा है, मन में मंथन होता है, तो थोड़ा सुनकर भी बहुत कुछ पा लेंगे; और यदि ऐसा नहीं है, तब तो फिर, बहुत सारा सुनकर भी उसे जीवन में उतारने की बात नहीं बनेगी । परन्तु, मूल प्रश्न तो यह है कि -

उपदेश सुनकर उसे स्वयं पर उतारना और
हृदय में मन्थन कैसे होगा ? :

इसका उत्तर रानी की इस घटना से मिल जाता है । राजा के तत्त्वोपदेश से पहले हृदय में बहुत गहरी वेदना हुई थी, स्वयं को अपराधी मानकर अधम, पापिष्ठा समझने लगी थी । एक निर्दोष जीव

का दिल दुखाने के लिए उसे अपार दु:ख हो रहा था, इसलिए राजा के उपदेश ने उस पर गहरा प्रभाव डाला । इस प्रकार से हमें उपदेश / प्रवचन सुनते समय या शास्त्र पढ़ने से पहले जीवन की पाप - सामग्री और पाप आचरण का भारी दु:ख लगे, स्वयं की पापी आत्मा पर फटकार बरसे, पर पीड़ा तथा अहंकार, विषयलम्पटता आदि पापों का आचरण करने के कारण, अपार शोक हो, यह आवश्यक है । ऐसा हो तभी श्रवण - वाचन - अध्ययन कर अपनी आत्मा के द्वारा आचरण करवाना और हृदय का व्यथित होना संभव होता है ।

रानी का मूल दोष पर ध्यान :

रानी राजा से कहती है: 'इस प्रकार से तो प्रतीत होता है कि हार को रखकर भूल जाना, फिर उस बनिए पर चोरी का दोष लगाना, इन सब की जड़ में तो हार के प्रति किया गया राग ही है । यही बहुत बड़ा अपराध, अपकृत्य लग रहा है । इसे सोचने से तो यही प्रतीत होता है कि हम, इस जगत् की असंख्य जड़ वस्तुओं पर जो राग रखते हैं, वे सभी, श्रेणीबद्ध अपराध ही कहलाने चाहिए । ऐसे अपराधों की भीड़ में, हमारी आत्मा की कैसी दशा होगी ! आप जो कह रहे हैं, वह पूरी तरह से सत्य ही है । तो क्या देवों को भी दुर्लभ ऐसे इस मनुष्य भव में, इन रागादि के असंख्य अपराधों एवं उनके द्वारा निर्मित वासनाओं में घुट - घुटकर ही मरना पड़ेगा ?'

राजा कहते हैं: 'किसलिए ? हम पर कोई इसके लिए दबाव नहीं डालता है । हमारे मन में ऐसा दृढ निश्चय हो जाए कि इन रागादि के मूल अपराध एवं वासनाओं के बन्धन भयपूर्ण और ख़तरनाक हैं, तो इस जीवन में से जाने के पहले, उनका अन्त या महान् ह्रास ही करना चाहिए, तो वह हम कर सकते हैं ।'

वासनाएँ और अपराध कैसे मिटेंगे ? :

रानी बोली: 'परन्तु यह कैसे होगा ?'

उत्तर में राजा ने कहा: 'ओहो ! इसमें क्या है ? उसके पोषक

वातावरण और वस्तुओं से दूर रहें, इसी प्रकार ज्ञानी - महर्षियों के तत्त्वोपदेश में चौबीसों घंटे रमण करते रहें, मन पर शास्त्र के वचनों के चिन्तन - मनन की निरन्तर छलकन - ज्ञान रस बिन्दु - लगाते रहें, तो हम अवश्य ही रागादि से बचे रहेंगे और वासनाओं का मैल भी जरूर धुल जाएगा । और इसे अगर जोर - शोर से, पूरे उत्साह से करना हो, तो संसार-त्याग के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है ।'

रानी का हृदय बहुत गद्‌गद् होकर भर आया था, पश्चात्ताप भी बहुत हो रहा था, उस पर यह तत्त्व - प्रकाश मिल गया, अतः अब उसका चित्त संसार पर से पूरी तरह से उचट गया था । वह राजा से बोली:

'तो अब मुझे ऐसी सुविधा करवा दें, मुझे अब संसार को त्यागना है । मुझे यह सब, अब नहीं चाहिए । अब तो उस वणिक को कष्ट देने के प्रायश्चित्त के रूप में, मुझे यही उचित लगता है ।'

राजा परीक्षा करते हुए बोले: 'मगर बाद में कितने कष्ट एवं कठिनाइयों से भरा जीवन जीना पड़ेगा, क्या यह भी सोचा है ?'

त्यागी जीवन में कष्ट क्यों नहीं होते :

रानी कहती हैं: 'कष्ट - कठिनाइयाँ तो राग के बवंडर के कारण लगते हैं, कष्टों से भला क्यों डरना ? डरने से तो रागादि के तूफान वैसे के वैसे रहेंगे । अब तो, सब कुछ सहन करने की सोच ली है इसलिए उन्हें कष्ट मानूँगी ही नहीं । भला हो उस हार का; जिसने मेरी आँखों के सामने से अन्धेपन की पट्टी हटा दी । हाँ, बेचारे वणिक को मैंने बहुत दुख दिया, यह बहुत बुरा हुआ, मगर अब तो सच बात को प्रकाशित करके उसका ऐसा सत्कार करेंगे, कराएँगे कि सारे नगर में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाए । बस, फिर मेरी संसार - त्याग की सुविधा करवा दीजिए ।'

राजा कहते हैं: 'तो क्या तुम्हें संसार छोड़ना है, और मुझे उसे रखना है ? नहीं, अब हम दोनों ही उससे छूट जाएँ, बस, चलो अब

उस वणिक को लेने चलें ।'

तनिक सोचें, कितना बड़ा परिवर्तन आया है ! रानी की दृष्टि में से विष ओझल हो गया, अमृत बहने लगा । अब उसने अपने सारे मनोरथ बदल दिए हैं !

क्या विष ? क्या अमृत ? :

'जड़ को महत्त्व देना' दृष्टि का विष है । जड़ की अनुकूलता में विघ्न - स्वरूप हो, उसे शत्रु और सजा-पात्र समझना यह ज़हर है । जड़ को महान् माननेवाली एवं जड़ - सुखों में अन्तराय, बाधा, डालनेवाले को शत्रु समझनेवाली दृष्टि विषाक्त दृष्टि है ।

दु:ख-सन्ताप, क्लेश-विडंबनाएँ एवं शोक-पराभव ये सब विषाक्त दृष्टि से उत्पन्न होते हैं । दृष्टि में से इस विष को निकाल देने से, इन दु:ख-संन्ताप आदि का अन्त आ जाता है । प्रयोग करके इसे समझा जा सकता है ।

दृष्टि में अमृत का प्रभाव :

'जड़ महान् नहीं होता, स्वयं की आत्मा महान् है' यह दृष्टि ही अमृतमय दृष्टि है ।

दृष्टि में अमृत यह है कि दृष्टि वस्तुस्थिति को पकड़े और वस्तुस्थिति यह है कि 'आत्मा वास्तव में महान् है, उसके नीचे जड़ का स्थान आता है ।'

आत्मा हीरे से अधिक कीमती क्यों है ? :

सोचो, हीरा मूल्यवान है ? या आँख कीमती है ? यदि देखने के लिए आँख ही न हो तो हीरे का क्या मूल्य होगा ? फिर हीरा दर्शन देकर आनन्द कैसे दे पाएगा ? चलो, और आगे देखते हैं । देखने का साधन बननेवाली आँख क़ीमती है या देखनेवाली आत्मा कीमती है ? कहना ही पड़ेगा कि आत्मा अनमोल है । आँख उसके निचले स्तर की वस्तु है । क्योंकि, मान लो आँख तो सतेज और अच्छी मिली, मगर

आत्मा में पशु बैठा हुआ है; और दूसरी ओर मानो कि आँखें तो धुँधली हैं, मगर आत्मा मनुष्य अवस्था में है; तो दोनों में से कौन - सी अवस्था अच्छी है ? कहना ही पड़ेगा कि मनुष्यता वाली । इसी प्रकार से आँखें तो अभी भी हाजिर हैं, परन्तु आत्मा की मृत्यु हो गई है, तो फिर आँख का कोई मूल्य नहीं रह जाता । इससे सूचित होता है कि हीरे की अपेक्षा आँख और आँख से अधिक आत्मा मूल्यवान है । इसलिए स्वयं का जो मूल्य है, वह जड़ का नहीं है । दृष्टि में यह बात बसी रहे, तो यही अमृत है ।

यदि आत्मा की बहुत कीमत नहीं है, अनेकों पापारम्भों और माया - ममता आदि कषायों से आत्मा चाहे जितनी लिपट जाए इस बात की चिन्ता नहीं है, सिर्फ जड़ लक्ष्मी, जड़ मान-सन्मान, विषय-विलास, सभी का महत्त्व मानना है; 'ये अगर सलामत हैं तो जीवन भी समृद्ध है, और यदि इन्हीं में अड़चन आ गई तो ज़िन्दगी व्यर्थ है' ऐसा मानना दृष्टि को विषाक्त बनाना है ।

धर्मात्मा पर धर्म का अधिकार होता ही है :

जन्म - जन्मान्तरों से, दृष्टि में यह विष तो हम रखते ही आये हैं । अब कब तक वह चलाना है ? उस ज़हर के पोषण के लिए मानों जड़ विषयों ने हम पर हक़ जमा रखा है ! तो क्या जिन शासन का हम लोगों पर कोई अधिकार, कोई हक़ नहीं है कि जिसके नाते हम अपनी दृष्टि में अमृत को बहता हुआ रख सकें ? धर्म का तो धर्मी पर हक़ होता ही है । धर्मात्मा का स्वयं का ऐसा उल्लास होता है कि 'मुझ पर धर्म का अधिकार है, हक़ है' यह भी अमृत है । इस हक़ की वजह से, कम-से-कम धर्म के द्वारा दिखाई गई कल्याण - दृष्टि तो हमें रखनी ही चाहिए । धर्म की यह आज्ञा है कि 'सबसे अधिक महत्त्व आत्मा को दो । जड़-मात्र से अधिक महत्त्वपूर्ण, महान्, आपकी आत्मा है, इस बात का बराबर ध्यान रखो' यह कल्याण-दृष्टि का आदेश है । धर्म का हमारे जीवन पर कुछ तो स्वामित्व होना चाहिए, और इसलिए प्रमुख महत्त्व आत्मा को ही देना चाहिए ।

17. अमीचन्द का उत्थान

रानी में अब परिर्वतन आ गया था । इसलिए एक हार से सम्बन्धित भूल के कारण, उसके निमित्त से, वह सारे संसार का त्याग और चारित्र जीवन स्वीकारने के भाव तक जा पहुँची है । उसे साथ देनवाले महाराजा थे । उन्होंने ही यह गहन तत्त्व समझाया था, तो फिर अवसर आने पर उसे स्वयं के जीवन में उतारने में, अब पीछे क्यों हटे ?

राजा - रानी जेल में :

राजा और रानी, दोनों ही अब जेल की ओर चले । अमीचन्द अन्दर क़ैद में से देख रहा था । उसे क्षोभ होता है कि 'अरे ! ये क्यों

आ रहे हैं ?' मगर उसको कर्मों पर विश्वास था, इसलिए मन को वह मोड़ देता है कि 'होने दो न, जो होना चाहता है' इतने में तो राजा - रानी दरवाज़ा खुलवाकर अन्दर आ गए और हाथ जोड़कर बोले:

'भाई ! हमें क्षमा करना, आपने हार नहीं चुराया था, और हमारा हार भी चोरी नहीं हुआ था । यह रहस्य हमें आज ही पता चला है । हमने आपको व्यर्थ हैरान किया इसलिए हमें क्षमा करना...' ऐसा बोलते - बोलते राजा - रानी की आँखों में आँसू झिलमिलाने लगे ।

रानी ने कहा: 'सारा दोष मेरा है । मैं ही हार के चोरी होने की ग़लत धारणा में पड़ गई थी और यह सब बतंगड़ मैंने ही खड़ा किया । भाई, मैं तुम्हारी बहुत बड़ी अपराधिन हूँ ! मैंने घोर पाप किया है ! तुम्हें बहुत दु:ख दिए हैं, मगर अब मुझे माफी दे दो ।'

अमीचन्द की जेल से मुक्ति :

अमीचन्द सज्जन है, विवेकी है । राजा माफी माँग रहा है, यह उसे अयोग्य और असहनीय लगता है, इसलिए वह राजा के पैरों में पड़कर, हाथ जोड़कर कहता है:

'आदरणीय महाराज ! क्षमा कीजिए, आपको किस बात की माफी माँगनी चाहिए ? गुनाह मेरा है, देवी ने मुझे स्वप्न में आदेश दिया था, मैंने उसका पालन नहीं किया, उसका मुझे यह फल मिला है । असल में मेरे कर्मों ने यह सब कराया है, इसमें आपकी कोई भी ग़ल्ती नहीं है । इसलिए, कृपा करके इस प्रकार की कोई बात ना करें ।'

सुनकर राजा को जिज्ञासा हुई, अतः वह उससे स्वप्न का सारा विवरण जान लेता है । फिर राजा कहता है: 'आप आज से मुक्त हैं, अब हमारे महल में पधारो ।'

अमीचन्द ने तो कहा कि: 'आप मुझे रिहा कर रहे हैं, इसलिए मैं आपका आभारी हूँ । मगर, महल में आने का क्या काम है ?' मगर राजा - रानी आग्रह करके उसे महल में ले जाते हैं । जेलर बेचारा यह सब देखकर महा आश्चर्य में पड़ जाता है । जो उसने कभी ज़िन्दगी भर

नहीं देखा था, वह उसे आज देखने को मिल रहा था । इसलिए उसने बाद में सभी को बात बतलाई कि 'हार चोरी नहीं हुआ था और राजा ने सेठ अमीचन्द का बहुत सम्मान किया ! उसे जेल से महल में ले गए ।'

विनयचन्द्र की ईर्ष्या - झूठी कल्पना :

नगर भर में बात फैल गई । छोटे भाई विनयचन्द्र के कानों में जब बात पड़ी तो उसे क्षणभर को तो चक्कर - जैसा आ गया । मगर फिर मन को मनाया कि 'राजा ऐसे कैसे सम्मान कर सकता है ? हार तो पकड़ा गया था, तो फिर सम्मान कैसे होगा ?' ईर्ष्यावश वह जला जा रहा था अतः सम्मान की बात मानने को वह तैयार नहीं था ! वह और अधिक द्वेष करने लगा । विषाक्त दृष्टि के नाटक भी भारी होते हैं ! क्या मिलता है इससे ?

ईर्ष्या से सौभाग्य का नाश :

परन्तु ईर्ष्या एक ऐसा ज़हरीला अवगुण है कि जिससे ईर्ष्या की जाए, हम उसका कुछ भी अच्छा सुनने को तैयार नहीं होते । विश्व जिन गुणों का अनुमोदन करता है, उन्हीं पर द्वेष, जलन, मिथ्या कल्पना करना - बढ़ाना, ईर्ष्या का काम है । इसका क्या अर्थ हुआ ? यही कि ईर्ष्या गुण की अनुमोदना करने के सद्भाग्य को फोड़ देती है और सन्मान - बहुमान के योग्य उत्तम आत्मा के प्रति भी अधिक द्वेष की अग्नि सुलगा देती है । इसमें, स्वयं के हृदय को कलुषित करने के अतिरिक्त और स्वयं के ही सद्भाग्य को फोड़ने के सिवाय, है कोई लाभ ? लाभ तो कुछ नहीं, उल्टे स्व-आत्मा में पाप-बुद्धि एवं पाप-कर्मों का मल बढ़ जाता है !

ईर्ष्या द्वारा सत्य की अवहेलना :

विनयचन्द्र और उसकी पत्नी यही कर रहे थे, इसलिए सच बात मानने को तैयार नहीं थे । मगर अब उनका काल भर चुका था, इसलिए काल ही उनसे मनवाएगा । विचारणीय यह है कि अन्त में

काल मनवाए, उसके स्थान पर, ईर्ष्या को समाप्त करके सत्य को मान लेने में क्या हर्ज़ है ? इससे पाप-बुद्धि और पाप-कर्मों से बचा जा सकेगा ! अन्यथा, सत्य सामने आने पर मानना तो पड़ेगा ही । प्रकट होने पर सत्य से कैसे मुँह छिपा सकेंगे ?

ईर्ष्या से बिगड़ती बुद्धि एवं ग़लत धारणाएँ :

जीवन में ईर्ष्या, अहं, वक्रता आदि इस प्रकार के दोष हैं जो बुद्धि को भ्रष्ट करके मनुष्यता को नष्ट कर देते हैं ! अच्छा सुझने नहीं देते और व्यर्थ के दुष्ट विकल्प एवं मार्ग दिखाकर आत्मा पर व्यर्थ के पापों का भार लाद देते हैं । इसके सामने उन्हें यदि चार भोले - भाले लोगों के सामने काम चलाऊ सम्मान, मिल भी जाता है, तो उसका क्या मूल्य है ?

(1) चार लोगों में, क्षण भर के लिए ही अच्छा लगा, मगर स्वयं की बुद्धि को हमेशा के लिए बिगाड़ दिया ! उसका क्या ?

(2) इससे, अशुभ कर्म दीर्घ काल तक दु:ख देते रहें, ऐसी परिस्थिति बन गई है ! इसका क्या परिणाम निकला ? इसीलिए:

ईर्ष्या, अहं, कुटिलता आदि दोषों को तो दूर से ही नष्ट कर देने में बुद्धिमानी है, स्वयं के हितों की रक्षा है तथा इससे, दूसरों के प्रति द्वेष, वैर करने से भी हम बच जाते हैं ।

अमीचन्द की अमृतमयी दृष्टि के बोल :

अमीचन्द को महल में ले जाकर अब राजा उसे स्वयं के साथ कोच पर बैठाता है और घटी हुई घटनाओं का स्पष्टीकरण पूछता है ।

इस पर, अमृतमयी दृष्टिवाला अमीचन्द कहता है: 'अहो महाराज जी ! मगर आपसे कहाँ गल्ती हुई ? जब तक आपको हार चुराया हुआ लगा, फिर वैसा ही हार बाहर से पकड़ा गया, और जिससे वह मिला, उसने उसका कोई विवरण नहीं दिया, तो एक न्यायप्रिय राजा की भाँति आपने जो किया उसमें ग़लत क्या है ? इसलिए आप

मन में बुरा मत मानें और अब मुझे घर जाने दें, घर में बेचारी पत्नी छह महीने से खून के आँसू बहाती बैठी होगी !'

राजा बोला: 'अरे ! आप क्या कह रहे हैं ? अब देखो, यह हमारा दूसरा जुल्म है कि हमने आपके घर के व्यक्ति को दुखी किया ! अब तो मुझे इन सबका एक बड़ा-सा प्रायश्चित्त करना है । सिपाही को नाम - पता दो तो आपकी पत्नी को मानपूर्वक पालकी में बिठाकर वह उन्हें यहाँ ले आएगा ।'

जिनमति पालकी में, महल में :

ऐसा कहकर राजा ने सिपाही बुलाकर अमीचन्द से नाम और पता ठीक से ले लिया और आदेश दिया कि: 'जाओ, उन्हें सम्मान - पूर्वक पालकी में ले आओ ।' कहना, 'आपके पति का कोई अपराध नहीं है और राजा अब आपका और उनका सम्मान करना चाहते हैं ।' साथ ही अमीचन्द चिट्ठी लिख कर देता है ताकि पत्नी को विश्वास हो जाए ।

बस, राजा का आदेश हुआ, फिर भला कितनी देर लगनेवाली थी ? राजा के आदमी पहुँच गए और सँदेशा भी दे दिया । जिनमति बेचारी सकुचाती है । राजा के आदमी हाथ जोड़कर निवेदन करते हैं: 'तनिक-सा भी संकोच मत करें, पालकी में बैठ जाएँ । महाराज और अमीचन्द सेठ आपकी राह देख रहे हैं, देखो, यह सेठ की चिट्ठी भी है ।'

फिर भी जिनमति को विश्वास नहीं होता । मन में होता है कि न जाने, चिट्ठी जबरदस्ती लिखवाई हो 'यहाँ से सम्मान से ले जाएँ और वहाँ जाकर शील पर कोई संकट आ जाए तो ?'

जिनमति कहती है: 'आप अभी जाएँ, एक बार सेठजी को घर आने दो, ताकि मेरे प्राणों को शान्ति मिले । फिर वे जैसा कहेंगे, करूँगी ।'

राजा का कर्मचारी चक्कर में पड़ गया, 'क्या करे ?' उसने

पड़ौसियों को जमा किया, समझाया कि आप सब मेरे साथ चलें । इसमें शंका करने - जैसी कोई बात नहीं है । पड़ौसी समझ गए और जिनमति को भी समझा दिया और उन्हें पालकी में बिठा कर पडौसीयों के साथ महल ले गए ।

राजा क्षमा माँगते हैं :

राजा-रानी ने जिनमति का स्वागत किया, बोले: 'देवी ! क्षमा करें । आपके पति को और आपको हमने व्यर्थ ही बहुत-से कष्ट दिए हैं । हमारा हार चोरी नहीं हुआ था । अनजाने में उसे कहीं और रख दिया था, वह अब मिल गया है । आपका हार, बिल्कुल उस - जैसा ही है, इसीलिए हम भ्रम में पड़ गए थे । क्षमा करना देवी ! लो, यह है आपका हार' ऐसा कहकर वे हार देते हैं ।

जिनमति की वाणी :

जिनमति हाथ जोड़कर कहती है: 'महाराजाजी ! यह आप क्या बोल रहे हैं ? आपको क्षमा नहीं माँगनी चाहिए । आप बहुत बड़े आदमी हैं । आपने हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ा है । बिगाड़ने वाले तो हमारे स्वयं के कर्म हैं । इस घटना के होने से पहले भी हम तो कष्ट भोग ही रहे थे, तो क्या वे आपके कारण ? नहीं, वे तो पूर्व जन्म के कर्म ही भुगवाते हैं । अन्य लोग तो उसमें निमित्त मात्र होते हैं । फिर, वे चाहे सुख हों, अथवा दु:ख; उनका असली कारण तो स्वयं के कर्म ही होते हैं ।'

राजा जिनमति की तत्त्वभरी वाणी सुनकर मुग्ध हो जाते हैं । जब कि उसके पति को क़ैद में डालकर उन्होंने उसे कितनी कष्टमय परिस्थिति में डाल दिया था, फिर भी वह राजा को दोष देने को तैयार नहीं है । इस बात ने उन्हें विह्वल कर दिया । फिर, अमीचन्द और जिनमति जेल जाने से पहले भी कष्ट भोगते आ रहे थे, यह जानकर राजा को अत्यधिक दु:ख होता है ! अमीचन्द के जीवन की अन्य कोई घटना न जानते हुए भी, दोनों के वर्तमान शब्दों एवं विवेक से राजा

समझ जाते हैं कि 'उनका जीवन कितना अधिक उत्तम रहा होगा ! कैसे सुगंधित गुणों से भरा, उज्ज्वल रहा होगा !'

'कहाँ हमारे पुण्य के ढेर के बीच में लोभ, मोह, मदभरी दुर्दशा आ जाती है ! और 'कहाँ इनकी कष्टों से भरी परिस्थिति में भी निस्पृहता, विवेक एवं स्वस्थ, निर्मल, उन्नत अवस्था ! तो क्या हम संसार में ऐसी विभूतियों के उत्तम जीवन का प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखते हुए भी, उनका आलम्बन नहीं लें और अधम जीवन बिताते रहते हैं ? नहीं - नहीं, अब तो जीवन परिवर्तन से ही शान्ति मिलेगी ।'

उत्तम जीवन-व्यवहार : वचनों का प्रभाव :

राजा के मन पर पड़े जबर्दस्त प्रभाव का कारण देखने लायक हैं । किसी का उच्च जीवन स्वयं उसे तो लाभ पहुँचाता ही है, मगर औरों को भी कितना महान् अवलम्बन देता है ! निरा भाषण ही नहीं, व्यवहार भी काम करता है । अमीचन्द एवं उनकी पत्नी का जीवन ही इतना सुन्दर देखने को मिला है कि उसका राजा और रानी पर गहरा प्रभाव पड़ता है ! इसका अर्थ यह होता है कि हम लोग अच्छा जीवन जी कर मात्र स्वयं का ही कल्याण नहीं करते हैं, मगर अन्य लोग, जो हमारा जीवन देखकर अच्छी बातों से प्रभावित होते हैं, उन पर भी हम उपकार करते हैं । तब, हमारा अच्छा जीवन, अच्छा व्यवहार, अच्छे वचन हमारे अलावा, अन्य अनेकों का कल्याण करने में निमित्त बनते हैं, तो फिर ऐसा ही जीवन - व्यवहार, वचन रखना क्या अच्छा नहीं होगा ? ओछे बर्ताव और शब्दों का हम प्रयोग क्यों करें ? 'अन्य लोगों पर हमारे अच्छे चाल - चलन, अच्छे व्यवहार का असर पड़ता है,' सदा इस बात का ध्यान रहेगा तो दृष्टि में अमृत होगा, और उससे वाणी और व्यवहार में अधिक सावधानी आ जाएगी । जीते तो कुत्ते - बिल्ली भी हैं, परन्तु हमें ऐसा जीवन जीना चाहिए कि जिससे पुष्प की भाँति हमारे आस - पास, चारों ओर सुगन्ध फैल जाए ! तो उसे ही जीने की सार्थकता मानी जाएगी ।

दम्पति की महल में आव-भगत :

राजा बहुत मुग्ध हो गए हैं । फिर, निर्दोष अमीचन्द ने जेल में छह महीने कष्ट में बिताए उसके लिए उनके हृदय में भारी पश्चात्ताप है; इसलिए उस भूल के परिमार्जन के रूप में भी वे कुछ अच्छा करने को तरस रहे हैं । इसलिए पहला काम तो वे यह करते हैं कि दास - दासी को आदेश देकर अमीचन्द और उनकी पत्नी जिनमति को स्नान आदि कराकर नए कपड़े - अलंकार से सजवाते हैं । फिर, स्वयं के साथ भोजन कराते हैं । रानी स्वयं भक्ति करनेवाली हैं, अतः वे कोई कमी क्यों रखेंगी ? अमीचन्द बहुत कहता है कि इतनी सारी आव-भगत की आवश्यकता नहीं है, मगर राजा और रानी हाथ जोड़कर बिनती करते हैं और सेवा करते रहते हैं ।

दोनों की दृष्टियों से अमृत झर रहा है ।

अमीचन्द के मन में था कि 'राजा ने संयोगों को देखकर न्याय किया था और उसे जेल की सजा दी थी, इसलिए उसमें उनकी कोई भूल नहीं देखना, जो हुआ, उसे कर्मों का फल मानना ।' यही अमीचन्द की दृष्टि का अमी था ।

राजा के मन में था कि 'स्वयं की उस बड़ी भूल का परिमार्जन अच्छे - से - अच्छे प्रकार से करना ही चाहिए' वह राजा की दृष्टि का अमी था ।

कितनी मनोरम अमीभरी दृष्टियाँ थीं ! जीवन जीते हैं, उच्च मनुष्य प्राणी के रूप में, तो दृष्टि को भी अनेक प्रकार के अमृत से विकसित करना चाहिए, यही उचित होगा । इसीमें जीवन की शोभा और सफलता है ।

दो महान् अमृत :

दूसरों की भूलों को न देखते हुए, उनके संयोगों पर विचार करना, स्वयं के कर्म पर नजर रखना, और उन्हीं को उत्तरदायी मानना यह एक अमृत है;

तथा, जहाँ स्वयं की भूल दिखाई दे, वहाँ उसका परिमार्जन

करने के लिए, ज्यादा से ज्यादा अच्छा करने की भावना रखना, यह दूसरा अमृत है ;

इन दोनों में, मन कितना निर्लिप्त - कोरा रहता है ! स्वभाव कितना सुन्दर गढ़ा जाता है ! फिर, दूसरों पर कितनी सुन्दर छाया पड़ती है।

हाथी के हौदे पर बैठकर नगर - प्रवेश :

राजा अब मंत्री को बुलाकर, परिस्थिति समझाकर कहता है: 'एक बार इन्हें हाथी के हौदे पर चढ़ाकर, बेण्ड-बाजे के साथ, परिवार के साथ, सम्मानपूर्वक सारे शहर में घुमाओ और घोषणा करते रहो कि 'महारानी का हार इन्होंने नहीं चुराया था, और ये एक बहुत अच्छे, निर्दोष सज्जन गृहस्थ हैं।' फिर इन्हें वापिस लाओ, तब दूसरी बात करेंगे।'

बस, हुक्म करने भर की देर थी; मंत्री ने सारी व्यवस्था करवा दी। अमीचन्द और जिनमति ने बहुत आना-कानी की कि इतना - सब नहीं करें, परन्तु राजा और रानी ने बहुत सारी मनौवल करके उन्हें तैयार किया। जो रानी, एक बार उन्हें हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाना चाहती थी, वही अब उन्हें हाथी के हौदे पर बैठाकर, सम्मान से, नगर में चक्कर लगाने की विनती कर रही थी। काल की बलिहारी है ! या अमीचन्द के पुण्य की ? या रानी के पुण्य की ?

कार्य-निष्पत्ति में पाँच कारण काम करते हैं। भवितव्यता, काल, स्वभाव, कर्म एवं पुरुषार्थ। इसमें से कार्य विशेष में अमुक - अमुक कारण विशेष महत्त्व का हिस्सा अदा करते हैं। यहाँ अमीचन्द के 'पुण्य-कर्म का उदय' इन-इन स्थितियों का कारण है। बाकी भवितव्यता ने रानी को छह महीनों बाद ही अलंकारों का स्टॉक देखने की बुद्धि जगाई और हार हाथ में आया ! काल एवं भवितव्यता, दोनों ने काम किया। अमीचन्द का उत्तम जीवन जीने का पुरुषार्थ ऐसा था कि उसने राजा - रानी को इतना ज्यादा आकर्षित लिया। राजा - रानी को भारी पश्चात्ताप होने पर यह सम्मान आ उपस्थित हुआ, यह वस्तु

स्वभाव काम कर रहा है ।

पाँच कारणों के विचार से समाधि :

प्रत्येक कार्य के पीछे काम करनेवाले इन पाँच कारणों पर सम्यक् विचार करने पर, विकट अवसरों पर भी मन को अद्‌भुत समाधान मिल जाते हैं । उन - उन कारणों के कार्यशील होने से, अमुक - अमुक प्रकार के कार्य होते है; फिर खेद करने की या बहुत हर्षित होने की क्या आवश्यकता है ? दृष्टि एक ही रखनी चाहिए कि अच्छे ठोस कारणों को ही स्वीकारें, बुरे कार्यों से बचने के लिए बुरे कारणों से दूर रहें । इस दृष्टि को सम्मुख रखकर जीवन जीना, अमृतमय दृष्टि का जीवन माना जाएगा । इसमें जीव को कितनी शान्ति, स्वस्थता एवं स्फूर्ति का अनुभव होता है ! जीवन गुण-सम्पन्न बनता है, यशस्वी होता है, दृष्कृत्यों से बचकर सत्कर्मों का अनुरागी बनता है । अमीचन्द एवं जिनमति को बहुत बड़े सेठ - सेठानी की भाँति हाथी के हौदे पर बैठाकर, महा सम्मान के साथ, सारे नगर में परिक्रमा करायी जाती है । उनकी जय - जयकार होती है, लोग मुग्ध हो जाते हैं । परन्तु विनयचन्द्र का क्या ?

18. विनयचन्द्र का पतन

विनयचन्द्र को अब भी ईर्ष्या है :

विनयचन्द्र एवं उनकी पत्नी तारा ने भी इस जय जयकार को स्वयं की नज़रों से देखा ! कहनेवाले ऐसा कहते हैं: 'यह देखो, तुमने तो भाई को छुड़ाने का कार्य नहीं किया,परन्तु उनके अखण्डित पुण्य ने उन्हें, न सिर्फ जेल से छुड़वाया, बल्कि यह राजशाही सम्मान भी दिलवाया ! अब विनयचन्द्र क्या बोलता ? सुन लेता है । अब भी मन में ईर्ष्या का कीड़ा जीवित है । वह तारा से अकेले में कहता है: 'देखा, इसमें भी कोई प्रपंच उन्होंने रचा दिखता है ! अन्यथा इतना बड़ा राजा इस प्रकार से भरमा जाता ?'

तारा कहती है: 'सच बात है ! तभी तो देखो न, इतने सम्मान में भाई को आप कहाँ याद आये ? पहले तो आप से बहुत प्यार जताते थे, और ऐसे अवसर पर भूल गए ? मगर, सारा प्यार कृत्रिम, बनावटी था, यह तो दिख ही रहा है, और देखो न, ये अपने घर के पास से ही जा रहे हैं, मगर सामने भी नहीं देख रहे हैं ।'

अमीचन्द बेचारा, कहीं छोटे भाई को शर्म नहीं लगे या उसके मन को दुख न पहुँचे इसलिए सामने नहीं देखता है; परन्तु यह ईर्ष्या से भरी तारा उसका कैसा मूल्यांकन कर रही है ? दोनों ही स्त्री हैं. तारा भी स्त्री है और जिनमति भी स्त्री है: पर दोनों में कितना अन्तर है !

जिनमति पिछली बातें भूलकर अमीचन्द से कहती है: 'विनू और तारा को साथ ले लो ।'

मगर अमीचन्द कहते हैं: 'अभी थोड़ा-सा धीरज रखो । उनके मन को शायद दुख हो, संकोच हो; फिर बाद में माँ से कहे अनुसार हमें उन्हें अच्छे प्रकार से रखना ही है ।'

जिनमति अवसर को पहचान कर, मन में उत्साह भरते हुए सोचती है कि कब वह उन दोनों को वापिस घर में लाकर अच्छी से अच्छी तरह से रखेगी !'

भीतर दृष्टि डालो : गाँव की और शहर की कन्या :

यह गाँव की कन्या थी, और वह शहर की कन्या थी, कौन बढ़िया ठहरेगी ? कौन पढ़ी - लिखी, शिक्षित कहलाएगी ? आज की शिक्षा के पीछे पागल हो गए हैं, न ? शहर की कन्या मेट्रिक, कॉलेजियन है, यह देखकर हर्षित हो रहे हैं, न ! गाँव की बेचारी इतनी पढ़ी हुई नहीं है और खुला सिर रखना, तंग कपड़े पहनना, खुले बाल रखना, बोलचाल में नाटकीयता, ऐसा कुछ उसे नहीं आता है, इसलिए बेढंगी दिखती है ! क्यों, सच है न ! परन्तु उसके अन्दर के दिल पर दृष्टि डालकर देखो ! संस्कार और प्रेम, विनय, सेवा, समर्पण से भरा दिल कहाँ है, उसे तो तलाशो ? वह माँ - बाप और बुजुर्गों के विनय,

अदब को किस प्रकार से सँभालती है ? भाई - बहन और अड़ौसी - पड़ौसी के साथ कैसा बर्ताव करती है ? कैसा है स्वभाव, स्वार्थी या परोपकारी ? कृपण या उदार ? मिथ्याभाषी या सत्यप्रिय ? खाऊ है या सन्तोषी ? कन्या पसन्द करनी हो तो क्या कोई ऐसी खोज कराएँगे ? नहीं । मात्र रूप - रंग और डिग्री ही देखेंगे ? कैसी मूढ़ दशा है ! फिर वह लड़की भले ही विनयहीन, झूठ बोली, स्वार्थी, लम्पट, कृपण, अभिमानी आदि हो और लड़के को फँसाकर, या लड़का उसे स्वयं पसन्द कर ले, तो परिणाम क्या होगा ?

ईर्ष्या होश गँवा देती है :

तारा शहरी कन्या थी, विनयचन्द्र को वह अब भी विष पिला रही थी । महा सज्जन जैसे अमीचन्द और जिनमति पर लगातार द्वेष की अग्नि अभी भी हृदय में रखे हुए है ! लोगों में तो जितना अधिक जय- जयनाद बोला जा रहा था, त्यों - त्यों वह जली जा रही थी ! मानों, यदि उसका वश चलता तो न जाने क्या कर डालती ? परन्तु उसे ज्ञान नहीं था कि यदि तेरे कर्म रूठ गए तो तेरी क्या दशा होगी ? उस समय हाय-वाय का पार नहीं रहेगा । ईर्ष्या के मारे उलटा समझा होगा । निन्दाएँ की होंगी और उससे औरों को भड़काया होगा, मगर उसके बाद कर्मजन्य दुर्दशा के समय, कोई देखने के लिए सामने भी नहीं आएगा । इसका कोई विचार नहीं कर रही है और वर्तमान में पुण्य प्रबल है, इसलिए ईर्ष्या में डूबे रहने का मन हो रहा है ।

ईर्ष्या कितनी भयंकर वस्तु है ! विनयचन्द्र आँखों के सम्मुख देख रहा है कि बड़े भाई की राजशाही सम्मान के साथ जय-जयकार हो रही है, नगर में चारों ओर वाह - वाह के उद्गार निकल रहे हैं, फिर भी ईर्ष्या के कारण वह और अधिक जल रहा है । इस समय वास्तव में खुश होने का अवसर है । बड़े भाई के सर पर से कलंक उतर चुका है, वे एक महान् सज्जन, सद्गृहस्थ के रूप में राजा की ओर से पूजे जा रहे हैं, परन्तु मन के आन्तरिक ईर्ष्या-रोग के कारण विनयचन्द्र और उसकी पत्नी आनन्द नहीं ले पा रहे हैं । बुखार में मधुर - मीठा पकवान भी

अप्रिय और अरुचिकर लग़ता है वैसे ही, ईर्ष्या के आत्म-रोग में सामनेवाले के अच्छे गुण, सुकृत भी अप्रिय लगते हैं, अरुचिकर लगते हैं। आनन्द के स्थान पर जलन होने लगती है।

मानव के दिल को कौन जलाता है और कौन शीतल करता है ? बाह्य तत्त्वों की अपेक्षा अपने आन्तरिक गुण - दोष ही जवाबदार हैं। बाहर धन के ढेर पड़े हों, मगर अन्दर ईर्ष्या आदि दोष हों तो वे आनन्द को भुलाकर जलन देते रहते हैं। इनसे परलोक में भी गहरा कुप्रभाव पैदा हो जाता है। ईर्ष्या आदि अन्तरात्मा में उथल - पुथल ही ना ? इसलिए वे आत्मा पर अमिट रंग जमा देते हैं।

तभी तो जीवन जीने की एक अमृत दृष्टि यह है कि बाहर कर्म संयोगवश चाहे जैसी परिस्थिति चलती हो, परन्तु अन्तरात्मा को बहुत स्वस्थ एवं स्वच्छ रखना चाहिए। बाह्य का ज्यादा प्रभाव लेवें ही नहीं, अति हर्ष का उन्माद या खेद का रोना - पीटना नहीं करना चाहिए। हृदय को एकदम कोरा, स्वच्छ तथा जड़ के प्रति बे-परवाह रखें, साथ ही द्वेष, असूया, मद, माया आदि किसी भी प्रकार के मैल को हृदय में प्रवेश न देकर, उसे एकदम साफ स्वच्छ रखें। यदि ऐसा करना आ गया तो उससे जो दिल में महान् शान्ति रहेगी, उसके सामने दैविक आनन्द भी फीका लगेगा।

अमीचन्द को वस्त्र एवं आभूषण की भेंट :

अमीचन्द को नगर में घुमाकर पुन: राजमहल में लाया जाता है। राजा की इच्छाएँ तो बहुत बड़ी-बड़ी हैं और वे अमीचन्द से कहते भी हैं, मगर अमीचन्द उन्हें फिलहाल मना कर देते हैं। इसलिए आखिर मूल्यवान वस्त्राभूषण राजा उन्हें भेंट करते हैं; और उन्हें अपने निजी सलाहकार के रूप में प्रतिदिन दो घंटों के लिए मिलने आने का निश्चित कराते हैं।

विनयचन्द्र की बर्बादी :

अमीचन्द ने अब एक बड़ी दुकान खोल ली। दबदबे से भरे

राजसी सम्मान से उनकी ख्याति बहुत फैल चुकी थी और सम्पत्ति बढ़ने से माल के बड़े - बड़े ढेर भी थे, अतः व्यापार धड़ाके से चल पड़ा ! फिर, व्यापार में ईमानदारी, दया, उचित भाव, लोभहीनता, पाकदिली को प्रमुखता दे रखी थी इसलिए पुराने ग्राहक तथा अनेकों नए ग्राहक भी उन्हें मिल गए । दूसरी ओर विनयचन्द्र में तो ऐसे सद्गुण थे नहीं और कर्मों का संयोग भी पलट चुका था, इससे उसका व्यापार टूटता गया और अपने पुण्य पर भरोसा करके वह व्यापार में गलत साहस करने गया, तो मार भी बहुत गहरी पड़ी । पूँजी तो साफ हो ही गई ऊपर से बड़ा भारी कर्ज़ भी हो गया, जिसे चुकाने के लिए दुकान और गहने बेचने पड़े । घर को गिरवी रखने पर भी सर पर देनदारी बाकी रह गई ! बाजार में बाहर निकलना मुश्किल हो गया । यह सब देखते-देखते हो गया ।

कर्म किसे, कैसे उल्टा घुमाता है ! :

कर्म जब रूठते हैं तो किसकी शर्म रखते हैं ? किसके गणित को उल्टा नहीं घुमाते ?

(1) बड़ा साम्राज्य भोगनेवाले को भी वह जंगल में भटकता कर देता है ।

(2) हट्टे-कट्टे पहलवान कायावाले को भयंकर रोग में घेर लेता है ।

(3) बड़े परिवारवाले को भी एकला बना देता है !

(4) सेठ - साहुकारी जिसने भोगी हो, उसे भी सामान्य नौकरी करनेवाला बना देता है । मदोन्मत्त के भी छक्के छूट जाय, दीन - हीन कंगाल बन जाए, ऐसी दुर्दशा में रूठे हुए कर्म ला देते हैं ! वह कब ऐसी परिस्थिति में ला पटकेगा, इसका भी कोई पता नहीं, सूचना नहीं, सन्देशा नहीं, चेतावनी नहीं !

कर्मों की सजा भोगने के बदले धर्मसेवा को जीवन में अपनाओ: कर्म से दारुण दु:ख पाने के बजाय धर्म की वृद्धि करें :

इसीलिए पुण्य के भरोसे नहीं रहना चाहिए । रूठे हुए कर्म अधिक वसूल कर लें उससे पहले हमें सुकृत - परमार्थ कर लेना चाहिए ।

(1) रोग आरोग्य को हर कर शरीर को दुर्बल बनाए, उसके बदले निरोगी अवस्था में ही त्याग और तपस्या कर लेना क्या बुरा है ?

(2) घाटे का व्यापार पैसा छीन ले, उसके बदले अच्छी परिस्थिति में ही दान-परोपकार कर लेना क्या बुरा है ?

(3) कर्म अमीरी छुड़वाकर, नौकरी पकड़ाकर, नम्र बनाये, उसके बदले अमीरी के समय में ही नम्रता और दान को अखण्ड रूप से व्यवहार में लाना क्या बुरा है ?

(4) कर्म की सजा भोगकर, गवाँना पडे, उसके स्थान पर उसे धर्म की सेवा में अर्पित कर देने का कितना अधिक महत्त्व है ! दृष्टि में यदि अमृत होगा, तभी ऐसा होना सम्भव होगा ।

विनयचन्द्र और तारा का झगड़ा :

विनयचन्द्र की परिस्थिति अब कठिन हो गई थी । पैसे पास में बचे नहीं थे, उल्टे सिर पर देनदारी चढ़ गई थी । अमीचन्द की जैसी हालत हुई थी, उससे भी खराब दशा में वे लोग हो गए थे ! अधिक बुरी बात तो यह थी कि अमीचन्द जैसी धीरज, उदारता और धार्मिक हृदय उनमें नहीं था, इसलिए वह अपनी पत्नी को उपालम्भ देता रहता था कि 'यह देखो, तुमने मुझे व्यापार में साहस करने की सलाह दी, और हम चौपट हो गए !'

वह भी किसी से कम नहीं थी, वह भी सामने से उत्तर देती है, 'परन्तु व्यापार तो आपको करना था न ? बाजार में क्या मुझे जाना था ? आपको देखना चाहिए था न ?'

विनयचन्द्र कहता है: 'मैं क्या खाक देखता ? वह तो तूने मुझे अन्धा, जोरू का गुलाम बना दिया था, इससे मुझे सभी कुछ तेरी

सलाह से करना पड़ता था ।'

तारा कहती: 'तो तुम्हें भी तो अच्छा लगता था इसलिए वैसा करते थे ना ! तुम थोड़े न सब-कुछ, अकेले मेरे लिए करते थे ? ऐसा होता तो अच्छे समय में मुझे थोड़ी-बहुत रकम नहीं सौंपी होती ? तो आज तुम्हारे साथ - साथ मैं भी तो बेहाल नहीं हुई होती ?'

विनयचन्द्र उबल पड़ता है: 'तो तुम क्या कहना चाहती हो ? मेरी दुर्दशा देखकर भी तुझे अच्छी तरह से रहना था ? देखा, देखा, पहचान लिया तुझे, यही तेरी नालायकी है, स्वार्थीपन है । तेरी अपेक्षा तो मेरे भाई - भाभी अच्छे हैं जो मुझे सभी कुछ सौंप देने को तैयार थे । ज़िन्दगी में कभी भी उन्होंने मुझे कम नहीं दिया । वह तो तुमने आकर मुझे चौपट कर दिया । विभाजन कराया, सम्बन्ध तुड़वा दिए, और आज ऐसी परिस्थिति में ला दिया है कि अब मैं किस मुँह से उनके पास जाऊँ ? तूने तो मेरा सत्यानाश करा दिया ।'

पत्नी को कैसी सीख देनी चाहिए ? :

दृष्टि का ज़हर क्या काम करता है ? विनयचन्द्र स्वयं की मोह - मूढ़ता का दोष नहीं देखता है, स्त्री की गलती देखता है । स्त्री चाहे जितना उकसाती हो, परन्तु यदि स्वयं का कलेजा ठिकाने होता, तो क्यों वह पत्नी की बात मानता ? उसे स्पष्ट रूप से कह नहीं देता कि 'बस, तुम तो आजकल की आई हुई हो, और मेरे वडील तो मुझे मेरे जन्म से लेकर आज तक सँभालते आए हैं । उनसे मैं द्रोह करूँ ? तेरे लटके और ढोंगी चोंचलों के पीछे, कृतघ्न और नीच बनूँ ?'

'इसी स्वार्थ के लिए यदि मैं उनसे द्रोह - बैर करूँगा तो कल अपने स्वार्थ के लिए मैं तुमसे भी द्रोह करनेवाला बन जाऊँगा । मगर मुझे ऐसा होना नहीं है, इसलिए समझदार बन । उपकारी का उपकार भूला नहीं जाता । उल्टे, यदि मैं भूल रहा हूँ तो तुझे सावधानी से मुझे कहना चाहिये कि 'कर्तव्य मत भूलना । उपकारी की सेवा, मर्यादा, विवेक को ठीक से बनाए रखो ।' यदि तू मुझे ऐसा सिखायगी, तभी

मेरी सच्ची जीवन संगिनी गिनी जायगी ।'

'और, यदि तू मुझे मेरे कर्तव्य से और उपकारी की कृतज्ञता से भ्रष्ट करती हो, तो तुम मेरी शत्रु हो, पत्नी नहीं; फिर मेरे और तुम्हारे कौन-से सम्बन्ध रहनेवाले हैं ? किस प्रकार से दिल मिलनेवाले थे ? यहाँ सारी कोमलता और स्वच्छन्दता सूझती है ! पर पिता के घर में पिता का और माँ का कितना सहन करती थी ? और यदि हम अच्छे हैं तो कौन हमारा बिगाड़ने आवेगा ? आप भले तो जग भला । इसलिए तेरी सीख मुझे नहीं चाहिए । यदि पसंद है तो खुशी से रहो, अन्यथा बाप के घर का दरवाज़ा खुला है । बाकी, यहाँ अपने उपकारियों, बुजुर्गों से द्वेष-द्रोह करना मुझसे नहीं होगा ।'

अमृतमयी दृष्टि के अभाव में विनयचन्द्र से ऐसा कुछ सिखलाते-समझाते नहीं बना, काम-राग में अन्धा होकर वह मुश्किल में पड़ा था । अब स्त्री का दोष निकाल रहा था कि तुमने मेरा सत्यानाश किया है ! वैसे ही, पत्नी तारा भी पति का दोष देख रही थी, वह भी प्रतिकूल शब्द सामनेवाले के सिर पर मारती है: 'आपसे शादी करके अन्त में, यही मुझे तोफा मिला !'

क्या है यह सब ? दृष्टि का विष । अमीचन्द और जिनमति की दृष्टि में अमृत बह रहा था, तो यहाँ इससे विपरीत दृष्टि थी ! बड़े भाई-भाभी का जीवन महागरीबी और भूखमरी की अवस्था में भी खारा नहीं हुआ था, जब कि विनयचन्द्र एवं तारा का जीवन खारा बन गया था ।

जीवन को खारा-मीठा कौन करता है ? दृष्टि, धारणा, विचारधारा । अमीभरी (अमृत) दृष्टि से जीवन अमृतभरा - मीठा बन जाता है, और ज़हरीली दृष्टि से जीवन खारा - ज़हर भरा बन जाता है ।

अमृतमय दृष्टि ही पैसा - प्रतिष्ठा है :

भगवान् जिनेश्वर देव का शासन अमृतमय दृष्टि की सीख देता है । दृष्टि को निर्मल बनाता है । इतना सुन्दर मार्गानुसारी जीवन, योग की पूर्व सेवा, शिष्ट आचार, सम्यक्त्व के व्यवहार, श्रावक के व्रत-

नियम एवं आचार - अनुष्ठान तथा योग्यता के गुणों को जिन शासन इस प्रकार से बतलाता है कि दृष्टि में अनेकों प्रकार के अमृत बस जाते हैं, अमी, अमृत निरन्तर बहता रहता है ! पापों से भरे संसार में ऐसा जिन शासन हमें मिला है, यह अपना महा अहोभाग्य है ! और -

सच्चा पुण्योदय, पापोदय कौन - सा ?

असली भाग्योदय यही है कि महान् कल्याणकारी जिन शासन की प्राप्ति हुई है । उसके सामने पैसा - परिवार - प्रतिष्ठा मिलना, यह कोई बड़ा भाग्योदय नहीं है । इसलिए, वह कम भी मिला होता है तो भी वह बड़ा पापोदय नहीं है । यदि जिन शासन मिला ही नहीं है, तो वह महान् पापोदय है, और यदि शासन मिला है तो हम सच्चे पुण्यशाली हैं । फिर शहंशाह की परवाह करने की आवश्यकता नहीं है । श्रीमन्तों या बहु-प्रतिष्ठित परिवारों को देखकर रो देने की, दीनता बतलाने की या कम मानने की जरूरत भी नहीं है ।

1) विश्वमंगल जैन शासन मिलने से हम सच्चे श्रीमन्त हैं ।

2) जैन-संघ-साधर्मिक मिलने से सच्चे परिवार वाले हैं ।

3) जैन आचार, विचार और अमृत दृष्टि मिलने पर, हम वास्तव में प्रतिष्ठित हैं ।

शासन का सम्मान कैसे होगा :

बात सिर्फ इतनी-सी है कि अंधे कामराग, स्नेहराग, दृष्टिराग एवं जड़राग-इन भौतिक रागों की ओर यदि हम न खींचें जायें तो ही -

1) ऐसे उच्च जिन शासन की कद्र होगी,

2) उसके द्वारा सिखलाई गई अमृतमय दृष्टि को अपनाया जा सकेगा,

3) उस दृष्टि को स्थिर करने के लिए मार्गानुसारिता के एवं अनेक ऊपर की भूमिका की योग्यता के गुणों को स्वीकारा जा सकेगा । इसके बिना, अमृतमयी दृष्टि का टिकना कठिन है, नहीं टिक पाएगी ।

विनयचन्द्र ने कामराग में गुणों को खो दिया था । इसलिए पहले शायद बचपन में भाई-भाभी के जीवन पर से, अमृत दृष्टि यदि सीखी भी होगी, फिर भी, अब उसने उसे खो दिया है । तारा तो बिचारी ईर्ष्या और विषयांधता, स्वच्छन्दता के कारण स्वयं ही, विषाक्त दृष्टिवाली बनी ही थी, ऊपर से पति को भी उसने ऐसा ही बना दिया । अब दोनों के जीवन खारे और एक - दूसरे की गलतियाँ निकाल निकालकर जलने - जलानेवाले बन गए थे ।

19 . छोटे भाई का उद्धार

अमीचन्द - जिनमति की भावुकता :

देवर के लिए अमृत वचन :

अमीचन्द को विनयचन्द्र की दुःखद परिस्थिति का समाचार मिलता है अतः वे अपनी पत्नी से कहते हैं: 'जानने को मिला है कि वीनु की हालत बिगड़ गई है, रुपए-पैसों से वह पूरी तरह से बर्बाद हो गया है ।'

जिनमति कहती है: 'अच्छा ? हमने तो माता जी को वचन दिया था कि वीनु को अच्छे से सँभालेंगे, तो फिर ऐसा सुनकर हम कैसे बैठे रह सकते हैं ? आप जाओ और उसकी कुशल-क्षेम पूछ आओ ।'

जानकारी - समाचार किसलिए पूछें ? :

अमीचन्द कहते हैं: 'कुशल - समाचार पूछकर क्या करेंगे ?'

'क्या करेंगे, मतलब ? उसकी हम मदद करेंगे और यदि आवश्यकता हुई तो उसे यहीं, अपने साथ ही रखेंगे ।'

क्या सामनेवाले का विपरीत स्वभाव सहन होगा ? :

'मगर उसकी बहू का स्वभाव तो, जानते ही हैं न ? साथ रहना अनुकूल होगा ?'

'अरे ! दुख में तो मनुष्य के स्वभाव में फर्क आ ही जाता है, इसलिए अब वे पहले जैसे नहीं होंगे, और फिर आप भले तो जग भला । आप जल्दी से जाओ, बेचारे दुखी होते होंगे ! जो भी कुछ हो, आखिर में वीनु तो मेरा ही है, उसके दुख में मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ।'

सामनेवाले के अपराध यदि याद आवें तो ? :

अमीचन्द को जिनमति में अब भी मातृवत् वात्सल्य दिख रहा था, अतः उसके दिल में अतीव हर्ष हुआ । मगर वह पुनः पूछता है: 'मगर आप यह क्या बोल रहे हैं ? आपको भूतकाल की कोई बात मन में नहीं आ रही है ?'

13 वी अमृत - दृष्टि - सामनेवाले के अपराध भूल जाओ :

वह कहती हैं: 'अरे ! क्या तुम पागल हो गए हो ? भूतकाल की बातों को क्या याद रखना चाहिए ? वह तो अपने ही पूर्व जन्म के पाप-कर्मों की सजा थी । इसमें उस बेचारे को क्यों दोष दें ? आप तो जाओ, जल्दी जाओ और उन्हें यहीं ले आओ । दुख के कारण वीनु अब अपना पहले का ही वीनु बन गया होगा !'

दूसरे की ओछी बातें याद करना, यह मन का मैल है । इसे भूल जानेवाला हृदय स्वच्छ होता है । जिनमति के निर्मल हृदय में स्वयं की आपदाओं के समय इस देवर के द्वारा दिखलाई गई कृतघ्नता, या विभाजन करते समय छीन लिया गया सभी माल, अच्छा घर एवं

बड़ी दुकान, इनमें का कुछ भी याद नहीं आ रहा था । उसमें माँ जैसा वात्सल्य बह रहा था ! इस बात पर अमीचन्द को भारी आनन्द होता है । वह भाई को घर लाने के लिए उठ खड़ा होता है । उसका हृदय भी कितना अधिक निर्मल था !

पुण्य की एक महान् कद्र :

निर्मल स्वच्छ दिल के पीछे दोनों की अमृतमयी दृष्टि काम कर रही है । अमृत यही था कि अब स्वयं की स्थिति में सुधार आ गया है तो पुण्य की कद्र करनी चाहिए ।

पुण्य की कौन सी क़द्र होती है ? यही कि जो पुण्य पहले मन के अच्छे भावों एवं काया के सुकृतोंके कारण उपार्जित हुआ था, तो अब उसके उदय में भी ऐसा ही करें । क्या पुण्य स्वजन्मदाता शुभ भावों को नष्ट कर सकता है ? नहीं ।

पुण्य उपार्जन के वक्त हमने जो भी अच्छे भाव किए थे, अब उस पुण्य का उदय होने पर क्या बुरे विचार, बुरे कार्य किए जा सकेंगे ?

तब, आप क्या यह मानते हैं कि यहाँ जितना पुण्य भोगते हैं, वह सभी पहले नीच, पापिष्ठ भावों से उपार्जन किया था ? यदि ऐसा होता, तब तो इस दुनिया में ऐसे पापिष्ठ भाव करनेवाला तो अधिकांश जगत् है, वह पुण्य उपार्जन से भयंकर दुख में नहीं फँसता ? बुरे भावों में मन को रखना है, जिनसे पुण्य उत्पन्न नहीं होता है, और पुण्य नहीं है इसलिए सुख मँहगा और दु:ख सस्ता है । 'अच्छे भाव और अच्छी करनी होगी, तो ही पुण्य आत्म-घर में आएगा' इसे अच्छी तरह से रटने की ज़रूरत है । वह पुण्य अब जब उदय होगा, उस समय भी भाव को अच्छा ही रखना पड़ेगा, वाणी और करनी भी अच्छी रखनी चाहिए । अच्छे भाव रखने से पुण्य कहीं भाग नहीं जाता, उल्टे नया पुण्य पैदा होता है । अतः भावों को क्यों सुन्दर न रखें ?

वीनु के घर भाई - भाभी :

अमीचन्द जिनमति से कहता है: 'मैं अकेला जाऊँ, उसके

बदले, आप भी साथ चलो । तारा को आश्वासन देने का कार्य तुम्हारा है ।'

जिनमति कहती है: 'आपकी बात ठीक है । चलो, मैं भी चलती हूँ ।' ऐसा कहकर वह उठी, साथ ले जाने के लिए उसने अच्छे कपड़े, गहने भी ले लिए । बस, दोनों निकल पड़े । पहुँच गए विनयचन्द्र के घर ।

आश्चर्य के साथ - साथ खेद :

वीनु - तारा को भाई - भाभी का आश्वासन :

विनयचन्द्र बड़े भाई और भाभी को घर आया देखकर स्तब्ध रह जाता है ! उसे तनिक भी आशा नहीं थी कि इस जीवन में भाई उसके सामने भी देखेगा ! क्योंकि उसने जो जो किया था, वह उसे अच्छी तरह से याद था । फिर भाई इस समय बहुत सुखी थे, दुखी होते तो फिर भी शायद 'आइए भाई ! हम दोनों समदुःखीये' ऐसा कह दें । मगर भाई तो राजा द्वारा सम्मानित हैं ! प्रतिदिन राजा उन्हें पालकी में राज महल में बुलाते हैं ! दुकान, व्यापार; उनका जोरदार आरम्भ हो गया है ! ऐसी स्थिति में अधमता दिखलाने वाले भाई के सामने वे क्यों नज़रें उठाकर देखेंगे ? उसके बदले, ओहो ! उठकर स्वयं अधम भाई के घर वे आए हैं ? विनयचन्द्र को यह आश्चर्यकारी लगता है । तुरन्त उठकर उनका स्वागत - सत्कार करता है । 'भाई, आईए,' पाँवों में गिरकर भाई-भाभी को नमस्कार करता है । वह करता है इसलिए तारा भी पाँव पड़ती है । फिर विनयचन्द्र दोनों को अन्दर लाकर गद्दी पर बिठाता है, स्वयं सामने बैठता है ।

अमीचन्द पूछते हैं: 'क्यों, क्या हाल है ?' विनयचन्द्र में बोलने की हिम्मत नहीं है, सिर झुका देता है ।

अमीचन्द कहता है: 'वीनु ? शर्माओ मत, तू तो मेरा वही लाड़ला भाई है । अब सब ठीक हो जाएगा । समझ ले , तेरा दुख अब चला गया... कह, कैसी परिस्थिति है ? जिससे पता चले और करने

योग्य सभी कुछ हो सके ।'

कडवा भूतकाल नज़रों के सामने :

विनयचन्द्र आश्वासन के शब्द सुनकर पानी-पानी हो जाता है । उसकी नज़रों के सामने एक ओर स्वयं की हुई भयंकर बर्बादी तथा सिर पर चढ़ा कर्ज़ आता है और दूसरी ओर, पहले विभाजन के समय भाई के पास से की गई लूट, फिर भाई की, की गई घोर निन्दा, भाई से पूरी तरह तोड़ा हुआ सम्बन्ध, पुत्र के जन्मोत्सव के समय आँगन में आए भाई को भोजन तो न कराया बल्कि ऊपर से, पहरेदार भैया से धक्के मरवाकर निकलवाया, भाई की दुकान बिक गई फिर भी खुद ने उनके सामने देखा भी नहीं, वे जेल गए तो भी उन्हें छुड़वाने - जैसा कुछ करने के स्थान पर उन पर चोरी का आरोप लगाया ।... यह सब, नज़रों के सामने तैर गया ।

अब, उसी भाई की ओर से, उसे लाड़ले भाई का सम्बोधन किया जा रहा है और जबरदस्त आश्वासन मिल रहा है । यह देखकर उसे स्वयं के और भाई के बीच सन्त और शैतान का अन्तर दिखता है !

खड़े होकर वह पैरों में गिरता है और चौधार आँसू बहाने लगता है, मगर चुप है ।

बोलने में संकोच :

जिनमति तारा को एक ओर ले जाकर पूछती है: 'कहो, कैसी परिस्थिति है ? जरा-सा भी संकोच मत करना । हम लोग तुम्हारे ही हैं और तुम हमारे हो । अब, हमारे साथ रहने के लिए बुलाने ही हम आए हैं ।'

तारा का कठोर हृदय इस समय पूरी तरह से पिघल गया था ! वह भी जोर - जोर से रोने लगी, बोली: 'क्या कहूँ, मैं दुष्ट हूँ । सभी उपद्रवों की जड़ मैं ही पापिन हूँ । क्या कहूँ ?' जिनमति के पाँवों मे सिर डालकर, पाँव पकडकर वह रो रही थी ।

जिनमति अमीचन्द से कहती है: 'अब ऐसा करो, इस समय

हालचाल जानने की बात रहने दो । बेचारे दोनों बहुत दुखी हो रहे हैं । इस समय चलो, इन दोनों को अपने घर ले चलते हैं । दिल हलका होगा तो सब समझ में आ जाएगा और अच्छा हो जाएगा ।'

कपड़े बदलवाकर घर ले जाते हैं :

अमीचन्द विनयचन्द्र से कहते हैं: 'भाई ! उठो, चलो, ये कपड़े बदल लो, चलो अपने घर चलें ।' जिनमति से कहते हैं: 'तारा के कपड़े भी बदलवा लो ।'

जिनमति ने गठरी खोलकर नये जगमगाते कपड़े और गहने निकाले, दोनों से कहा: 'बदल लो, कपड़े बदल लो ।'

वे दोनों सकुचाते हैं मगर ये बहुत प्रेम से कह रहे हैं: 'अब दूसरा कोई भी विचार मत करो । घर चलना है, अन्यथा हम यहीं बैठे रहेंगे ।'

विनयचन्द्र और तारा स्वयं की दुर्दशा को जानते हैं । 'खाएँगे क्या ?' यह उनकी सबसे बड़ी चिन्ता थी । घर की चीज़-वस्तुएँ बेचकर आज तक निभाया था । घर गिरवी रखा है, उसकी भी मुद्दत होते ही वह भी जानेवाला है, इसलिए दोनों जन, समझकर कपड़े बदल लेते हैं और भाई के साथ उनके घर जाते हैं ।

देव-गुरु-भक्ति का ठाठ; दान :

अमीचन्द उन्हें वापिस घर ले आए, फिर उन्हें स्नान आदि कराकर, गृह मन्दिर में स्वयं के साथ अच्छी तरह से जिन-भक्ति कराते हैं । उत्तम कोटि के चन्दन, कपूर, केशर, पुष्प, सुवर्ण पत्रादि, श्रेष्ठ फल, नैवेद्य आदि तथा निष्णात बाजे बजानेवाले, संगीतकार एवं विविध वाजिंत्रों का ठाठ तथा प्रतिदिन की अपेक्षा आज विशेष भक्ति-रंग में अमीचन्द की तन्मयता, इन सबों ने विनयचन्द्र एवं तारा के दिलों पर गहरा प्रभाव डाला । मन ललक उठे कि कहे: 'वाह ! कितना सुन्दर जीवन है! हमने तो ऐसा कुछ भी नहीं किया, जीवन बर्बाद कर दिया !'

पूजा-भक्ति करने के बाद, सुपात्र दान और उसके बाद, प्रतिदिन के क्रमानुसार आमंत्रित साधर्मिकों को करायी जाने वाली भोजन - विधि हुई। उसमें आज विनयचन्द्र और तारा को भी ठीक घर के ही सदस्य की भाँति मानकर, उनके द्वारा भी उदार साधर्मिक भक्ति कराई गई । पश्चात् अमीचन्द और जिनमति, इन दोनों को साथ ले जाकर भोजन करने बैठते हैं। छोटे भाई-भाभी को मन-ही-मन तो बहुत संकोच होता है, मगर बड़े भाई और उनकी पत्नी का व्यवहार इतना अधिक वात्सल्यमय और आत्मीयता से भरा है कि उन्हें सुनिश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है कि इन्हें उनकी भूतकाल की दुर्जनता का तनिक-सा भी स्मरण नहीं है । उन्हें संकोच न हो इसलिए भाई-भाभी अत्यधिक आग्रह कर - करके उन्हें प्यार से भोजन कराते हैं । इससे दोनों को लगता है कि 'अहो ! कहाँ ये दैवी जीव ! और कहाँ हम अधम !'

राजा का बुलावा : अमीचन्द को राज - सम्मान :

भोजन के बाद थोड़ी देर विश्राम किया । इतने में रोज के अनुसार, राजा की पालकी अमीचन्द को लेने आ गई। आज अमीचन्द जिनमति, विनयचन्द्र तथा तारा से कहते हैं कि वे सब भी अपनी गाड़ी में बैठकर राजाजी से मिलने आवें । फिर उसके अनुसार वस्त्र - अलंकारों की सजावट करके राजमहल की ओर जाते हैं।

अमीचन्द पालकी में हैं। पीछे खुली गाड़ी में विनयचन्द्र, तारा और जिनमती हैं। विनयचन्द्र देख रहे हैं कि रास्ते पर राज-परिवार के साथ पालकी में अमीचन्द को ले जाया जा रहा है और राह में मिलते सिपाही आदि अमीचन्द को झुक-झुक कर प्रणाम कर रहे हैं ! बीच-बीच में अमीचन्द के दान से प्रभावित व्यक्ति 'अमीचन्द सेठ की जय' की पुकार भी कर रहे हैं ! विनयचन्द्र तो स्तब्ध रह जाता है कि मेरे बड़े भाई का ऐसा सम्मान !

इस प्रकार से राज महल आ जाता है। राजा ने हर्षित होकर स्वागत किया। अमीचन्द और उनके साथी राजा को प्रणाम करके नीचे बैठने जाते हैं; मगर तभी राजा उठकर अमीचन्द का हाथ पकड़कर खुद

के पास के एक कोच पर उन्हें बैठा देते हैं। कुशल-क्षेम पूछते हैं।

अमीचन्द कहते हैं: 'परमोपकारी देव-गुरु और आप-जैसे न्यायी, परोपकारी महाराज के मिलने के बाद, कुशल-क्षेम क्या पूछना ? फिर आप, प्रजा के रक्षक और प्रजा के धर्म के संरक्षक हैं, अतः आप अखंडित कुशल रहें। फिर अमीचन्द छोटे भाई की पहचान करवाते हैं कि 'विशेष करके इन्हें आपके दर्शनों का लाभ मिले, इसलिए इन सबको यहाँ लाया हूँ।'

राजा के पैर पड़ता है :

अमीचन्द के इशारा करने पर विनयचन्द्र उठकर राजा के पैर पड़ता है और आशीर्वाद माँगता है। राजा प्यार से हाथ पकड़कर उसे बैठाते हैं तथा आशीर्वाद देते हैं, 'अच्छी उन्नति करो।'

राजा राज्य सौंपने को तत्पर :

राजा अमीचन्द से कहते हैं: 'क्यों, अब और कहाँ तक वायदे किए जाओगे ?'

अमीचन्द कहते हैं: 'महाराज ! मेरी औकात है ?'

'अरे ! सेठ, फिर वही बात ! वही बात पुनः पुनः ले आते हो ! आप भी खूब हैं। आपकी औकात तो परख कर निश्चित हो चुकी है, अतः अब शीघ्र ही इस राज-पाट को सँभाल लो तो हमारा छुटकारा हो।'

अमीचन्द कहते हैं, 'इतनी जल्दी क्या है ? अभी तो आपको थोडे और वर्ष इसे सँभालना जरूरी है।'

'वर्ष ?' राजा बोल उठते हैं। 'आपको क़ैद करने की घटना के बाद, आपकी देखी हुई बहुत उच्च श्रेणी की योग्यता ! हार के मिलने के बाद हमें समझ में आई हमारी भूल और उसके कारण खुल गई हमारी दृष्टि, अब एक भी दिन इस संसार में हमें चैन से नहीं रहने दे रही है। इसलिए अब तो आप राज्य को सँभालो तो हम पर दया होगी

और हम इस असार संसार से छूटकर, एक-मात्र सारभूत संयम की आराधना करने चले जाएँगे । जीवन का क्या भरोसा ? अगर हम लम्बी आयु भी जीएँ, तब भी, पाप कहाँ कम काटने हैं ?'

विनयचन्द्र के हृदय को आघात :

विनयचन्द्र यह सुनकर असलियत जान जाता है । बड़े भाई की इतनी ऊँची योग्यता कि राजा जैसा उस पर अपना राज्य न्यौछावर कर दे, यह देखकर वह बहुत अधिक चकित हो जाता है । उसे प्रतीत होता है कि 'अहो ! भाई का यह सन्मान ! मेरी अमीरी में भी कैसी कूप-मंडूप जैसी दशा ! और कहाँ भाई को यह राजसी मान-सम्मान ! राजा बनने का आग्रह ? अरे ! ऐसे दैवी भाई को मैंने पहचाना नहीं ? राजा उन्हें एक हार की चोरी के भ्रम के लिए, सिर्फ छह महीने जेल में रखने का, इतना बड़ा प्रायश्चित्त कर रहे हैं, तो उसकी तुलना में तो मैं उनकी कितनी अधिक तबाही कर चुका हूँ ! तब मैं कितना अधम हूँ ? फिर, राजा उन्हें अपनी भूल के दंड स्वरूप राज्य सौंपने को तैयार हैं, और मैं ? कुछ भी नहीं कर रहा हूँ । हाय - हाय ! कैसा पापिष्ठ हूँ मैं ...' यह सोचकर उसका दिल भर आया । उठकर 'महाराज !' कहता हुआ, राजा को प्रणाम करके बोला: 'धन्य हैं आप !' फिर -

राजा के सामने वीनु - तारा का करुण रुदन :

अमीचन्द के पाँवों में पड़कर रोते हुए कहता है: 'बड़े भैया, यह मैं क्या देख रहा हूँ ? मैंने आपको पहचाना नहीं और आपको बहुत सताया । मैं तो आपका भयंकर अपराधी हूँ । मेरा क्या होगा ? कौन-सी नरक में जाऊँगा ? कैसे लोकोत्तर भाई ! और मैंने यह नीचता की ? यह दुष्टता की ?'

यह देखकर क्या अब तारा अड़ी रहती ? उठकर अमीचन्द के पैरों में गिरकर बोली: 'अरे ! इन सभी क्लेशों का मूल तो मैं हूँ । मेरे उकसाने पर, भ्रमित करने पर ही ये अपने भाई-भाभी को भूल गए थे ! मैं दुष्ट हूँ, पापिनी हूँ, डाकिन से भी अधिक नीच हूँ,' बोलते - बोलते

वह जोर - जोर से रो पड़ती है ।

अमीचन्द दोनों को शान्त करने के लिए कहते हैं 'अरे ! यह क्या बोल रहे हो ? तुमने हमारा क्या बिगाड़ा है ? कुछ भी नहीं बिगाड़ा । तुम लोग तो उत्तम जीव हो । ऐसा पागलपन मत करो । हमारे दिल को ठंड़क पहुँचाने के लिए तुम एक स्थान हो । हमने माँ को जो वचन दिया था, उसका पालन तुम लोगों के कारण ही होता है और उससे हम बहुत प्रसन्न रहते हैं ।'

अपराध का प्रकटीकरण :

विनयचन्द्र कहता है: 'भाई ! आप तो देवपुरुष हैं इसलिए हमारी मूर्खताओं को ढँकते हैं । हमने बँटवारा करते समय की हुई धन - सम्पत्ति की लूट, आपकी की हुई घोर निन्दा, आपके व्यापार को तोड़ना और आपको निर्धनता तथा गरीब हालत तक पहुँचाना, और उस स्थिति में भी आपका किया गया तिरस्कार, कर्मचारी से आपको धक्के दिलवाना और जेल जाने पर आप पर लगाया चोरी का आक्षेप ... हमारी यह सब राक्षसी लीलाएँ कहाँ कम थीं? आपने तो बचपन से ही माँ - बाप की तरह व्यवहार किया और मुझे अपने पेटजाये बेटे - जैसा पाला, मगर मुझ अभागे ने आपको धोखा दिया, कोई भी मुसीबत देना शेष नहीं रखा ! इतना होने पर भी, हमारे भिखारी बनने पर, आपने घर आकर हमारा हाथ पकड़ा, मानों कुछ हुआ ही न हो, ऐसे हमें वापिस अपने घर ले आए । आपने वैसा ही प्रेम, वही वात्सल्य दिया, बड़े भाई...! आपकी उदारता, सज्जनता की हद नहीं है ! आप जैसा पालक पाने के बाद भी मुझ ढीठ ने क्या - क्या कर दिया ?' ऐसा बोलता हुआ विनयचन्द्र दोनों हाथों से अपना कपाल कूटने लगा, उसी के साथ - साथ तारा भी अपना सिर और छाती पीटती है ।

राजा पर अधिक प्रभाव :

राजा तो विस्मित ही रह जाता है, उसे विनयचन्द्र के पश्चात्ताप के शब्दों पर से पिछली बातें ज्ञात होती हैं । अमीचन्द की स्वयं-देखी

सज्जनता की अपेक्षा, कई गुनी महात्मागिरी उसे सुनने को मिलती है ! इससे उसका दिल अमीचन्द पर बहुत अधिक न्यौछावर हो जाता है । उनके मन को प्रतीत होता है कि 'यह मैं क्या देख रहा हूँ ? मैं कितना धन्य हूँ कि ऐसे ईश्वर के समान, इस देवांश से मिलने का मुझे संयोग मिला ! यह तो दुष्ट भाई को भी प्रेम से नहला रहा है, तो यह राजा बनकर तो प्रजा की कितनी सुन्दर सँभाल करेगा ! तो मैं अब क्यों देर कर रहा हूँ ? बस, अब इसे जल्दी से राजा बनाकर मैं अपने में जगी पवित्र चारित्र की भावनाओं को सफल करूँ ।'

अमीचन्द शान्ति देते हैं :

यहाँ अमीचन्द विनयचन्द्र का और जिनमति तारा का हाथ पकड़ लेते हैं और कहते हैं: 'भाग्यवान ! ऐसा मत करो, हमें दुख होता है । तुमने हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ा है । इस जगत् में जो भी कुछ बनता है, वह जीवों के अपने स्वयं के कर्मों के हिसाब से । हमारे कर्म ही ऐसे थे उसमें आप क्या कर सकते थे ? फिर चाहे जैसे हो, अब सब - कुछ ठीक हो गया न ? अब धीरज रखो, शान्ति रखो ।'

अमृत और विष : कद्र और काँटा :

विनयचन्द्र कहता है: 'भाई मेरे !... धीरज ? हमारी बेशर्मी पर अब आँखें खुल जाने पर क्या शान्ति रहेगी ? आज महाराजा जैसे व्यक्ति आपकी जो कद्र कर रहे हैं, उस पर से ज्ञात होता है कि आपकी महा सज्जनता कितनी अधिक ऊँची पहुँच चुकी है ! महाराजा पर तो आपने कोई उपकार किया नहीं होगा, फिर भी वे भी आपको सारा राज्य देकर आपकी कद्र कर रहे हैं ! तब कि मैं पापात्मा, आपके अगणित उपकार लेने के बाद भी, क़द्र के स्थान पर आपके लिए, काँटे बोनेवाला निकला ! धिक्कार है मुझ पर !' बोलते हुए उसकी आँखों से झर - झर पानी बरसने लगा ।

दिल के दो कार्य हैं, एक क़द्र करना और दूसरा काँटे बोना । अमृतमयी दृष्टिवाला क़द्र करने को तत्पर रहता है; और विषाक्त

दृष्टिवाला काँटे बोने को ।

इस पर तारा रोते हुए कहती है: 'नहीं - नहीं, सारी कारस्तानी मेरी है । मैं भयंकर सजा के लायक हूँ ।'

रानी क्या कहती हैं ? :

यह सब अन्दर बैठी हुई रानी सुनती हैं । उनसे रहा नहीं जाता, इसलिए वे बाहर आकर तारा से कहती हैं: 'बहन ! तुमने तो क्या किया होगा ! किन्तु मैंने तो सेठ को हाथी के पैरों तले रौंदवाने के लिए हठपूर्ण आग्रह किया था । किसलिए ? एक तुच्छ हीरे के हार की खातिर ! मगर अमीचन्द सेठ की सज्जनता देखकर, मानवता निहारकर, अब तो सारा संसार धिक्कारने योग्य लग रहा है । अब तो उस पाप का प्रायश्चित्त मुझे चारित्र द्वारा करना है । तुझे भी यदि सच्चा खेद हो रहा हो तो तू भी कोई तपस्या, सेवा - भक्ति करना । अब यह रोना - पीटना रहने दे ।'

अमीचन्द भी कहते हैं: 'वीनु । अब शान्त हो जाओ । तुम्हें यदि तुम्हारी भूल लग रही है, तो भी अब रोने के बजाय पाप का ठोस प्रतिकार करने स्वरूप भगवान् जिनेश्वर देव के द्वारा उपदिष्ट सक्रिय संवर मार्ग पर चल पड़ो और इस भूल के निमित्त से समझ पाकर, भगीरथ पुरुषार्थ को जगाने को ही अपना कर्त्तव्य मानो ।'

अब देखें, अमीचन्द उन्हें कैसा भव्य उपदेश देते हैं !

वे कहते हैं -

20. अमीचन्द का भव्य उपदेश

उपदेश एवं सुखद अन्त :

आसक्ति की आत्म - निर्बलता यहि मूल कारण है :

'हे महानुभाव ! पहले तो यह देखें कि अपनी किस दुर्बलता से यह सब हुआ ? ध्यान दोगे तो तुम्हें दिखेगा कि,

जड़ लक्ष्मी एवं जड़ विषयों के सुखों की आसक्ति, आसक्त दशा, यही सबसे बड़ी आत्म - निर्बलता है। जिनके कारण आन्तर शत्रु सिर पर चढ़कर, जीव से काले कर्म कराते हैं !

जब तक यह निर्बलता कम नहीं होगी, तब तक जीव आन्तरिक शत्रुओं से कैसे बच सकता है ? भूलों से कैसे दूर रह सकता

है ?'

'हे भाग्यवान ! दिल को स्वस्थ करके तू विचार तो यह कर कि:

'जड़ लक्ष्मी और जड़ विषयों की ऐसी कितनी बड़ी कीमत है कि जीव उसके पीछे पागल बना घूमता है ?'

शराबी को शराब, जीव को लक्ष्मी :

शान्त बैठा शराबी, दारू मिलते ही जैसे पागल हो जाता है, ऐसे ही शान्त स्वस्थ जीव को लक्ष्मी मिलते ही पागलपन आता है ! जीव आत्मा को भूलकर, जड़ के विचारों में खो जाता है। गुणों को परे सरकाकर, दोषों को दिल में बसा लेता है, कोई क्लेश, झगड़ा, ऊधम, दौड़ धूप करता है ! यह है लक्ष्मी !

इन्द्रियों के विषय, मानों जैसे शराब की प्यालियाँ। नशेड़ी को नशे की प्यालियाँ चढ़ाते हुए, फलस्वरूप, काया और कंचन के विनाश के अलावा और कुछ भी हाथ में नहीं आता।

(1) पी हुईं प्यालियाँ गईं। 'नई - नई लाओ,' यही एक आतुरता, बेसब्री। इसके सामने अन्य सभी इच्छायें व्यर्थ, फीकी लगती हैं ! फिर,

(2) शराब पीकर पागलपन करना और उसके तुच्छ आनन्द में अन्य सब तुच्छ दिखना,

(3) फिर, उसकी लत बढ़ने पर, बहुत - कुछ गँवाने के बाद, निर्बलता बढ़ती है।

विषयों के पीछे पागलपन तथा बर्बादी :

'हे बन्धु ! बस, विषयों की यही दशा है। विषयों को भोग - भोगकर अंतमें कुछ भी हाथ में नहीं आता ! पुण्यधन और आत्मा की बर्बादी ही होती है ! आज तक भोगे सभी विषय गए ! मानों उन्हें भोगा ही न हो, इस प्रकार की एक नई भूख, नई तृष्णा रहती है कि 'बस

लाओ विषय-भोगों को !' अब, यदि पुण्य प्रबल है तो विषय मिलते जाते हैं, तो आत्मा उनमें इतनी अधिक रच-पच जाती है, आधीन और शिथिल हो जाती है कि अन्तकाल में सर्व - वियोग से उद्विग्नता और शोक का पार नहीं रहता ! तब, विषय लंपटता की वजह से पागल होकर वह विषयों की प्राप्ति, उन्हें भोगने के आनन्द को इतना अधिक मानता है कि उनके सामने अन्य आनन्द उसे तुच्छ लगते हैं ! देव - गुरु की भक्ति का आनन्द, कर्त्तव्य पालन का आनन्द, गुण - प्राप्ति का आनन्द, ये सब बहुत साधारण लगने लगते हैं। यह पागलपन है।

मूल्यवान पुरुषार्थ-काल का नाश :

"हे बुद्धिमान ! विशेष यह देखना कि इन विषयों के उन्माद के पीछे उत्तम धर्म - पुरुषार्थ का काल नष्ट हो रहा है ! यह उच्च मानव - जीवन का समय तो सुन्दर कोटि के संयम, तपस्या, दान, त्याग, सेवा - भक्ति आदि धर्मों को साधने का भव्य पुरुषार्थ काल है ! इसका हर क्षण मूल्यवान है। यह पुरुषार्थ आजमाए बिना के बीते क्षण, पुन: नहीं आएँगे। जितने पल विषयों के रंग में निकाल दिए, उतना क़ीमती पुरुषार्थ काल व्यर्थ हो गया ! आँखों के सामने कोई रूप - रंगी चीज़ आई और आप उसे देखते रह गए, मन को उसमें लुब्ध बनाकर, उसके विचारों में लीन हो गए, पर अन्त में क्या मिला ? कुछ भी नहीं, बल्कि उतना साधना का समय, पुरुषार्थ काल गँवाया ! उस समय यदि जागृत रहकर, विषयों की क्षण भंगुरता, मारक मोहकता आदि को देखा - समझा होता तो वह सत्य पुरुषार्थ होता, काल सार्थक होता। मन फिजुल नहीं बैठता है, विचार किए जाता है। मात्र हमें ही विचारों की दिशा को बदलने की आवश्यकता है। इस प्रकार के विचारों को करना है कि जो अनन्त ज्ञानी तीर्थंकर भगवान् ने सद् विचारों के रूप में फरमाया हो। उन्हें खोजना कठिन नहीं है, वह इस प्रकार से -

'हे बन्धु ! हमें यदि धर्म में श्रद्धा है तो ऐसा समझ में आ जाता है कि भगवान किन विचारों को सद्विचार कहते हैं। गणित सीधा सा है, जीवन में से त्यागने योग्य बातें, आत्मा के लिए अहितकारी

वस्तुएँ, उनके प्रति लम्पटता के विचार - ये तनिक भी स्वीकारणीय नहीं हैं । ऐसे विचार भी असत्पुरुषार्थ है । मूल्यवान मानव जीवन को एवं आत्मा को वे बरबाद करते हैं । इनके विपरीत, भगवान् के द्वारा आदरणीय कही बातों का आकर्षण, अभिलाषा के विचार उत्तम हैं, सत्पुरुषार्थ हैं ।

'भाई मेरे ! यह तो देखो कि क्रोध - अभिमान - कपट को तो ज्ञानियों ने त्याज्य कहा ही है, अरे ! क्रोधयुक्त विचार, अभिमान के विचार अथवा माया - कपटपूर्ण विचार भी अहितकारी तत्त्व हैं । क्षमा, नम्रता, सरलता आदि को आदरणीय कहा गया है, अतः क्षमापूर्ण विचार, नम्रता, सरलता के विचार, ये उच्च कोटि के माने गए हैं । लोभ, स्वार्थ, तृष्णा, ममता; ये खराब हैं और उनसे लिपटे हुए विचार भी हीन हैं । त्याग, दान, परोपकार, वैराग्य आदि अच्छे हैं और उनके विचार भी श्रेष्ठ कहे गए हैं ।

'संक्षेप में, वीनु ! जीवन के क्षण क्षण को कायिक, वाचिक, पुरुषार्थ में ही, उत्तम प्रकार से बिताना चाहिए । उसे ऐसे पुरुषार्थों से ही भरकर बिताना उचित है । यदि आज तक ऐसा करना नहीं आया है तो सिर्फ बैठकर रोने से कुछ हासिल नहीं ही होगा और न कुछ भी कल्याण होगा । ऐसे रोने से तो अच्छा है, जब जागे तब सवेरा, सत्पुरुषार्थ को आज ही से आरम्भ कर देना चाहिए । तभी इससे पहले की भूलों का सच्चा पश्चात्ताप होगा और प्रायश्चित्त हो पाएगा । अतः सावधान हो जाओ, रोना बन्द करो, पराक्रम करो । अब भी मानव जीवन तुम्हारे हाथ में है ।'

वाणी की अद्‌भुत असर :

अमीचन्द की अमृतमय दृष्टि में से ऐसी दिव्य वाणी बरसी कि विनयचन्द्र और तारा स्वस्थ हो गए, उत्साहित बने और राजा - रानी भी चमत्कृत हो गए ! 'कैसा भव्य उपदेश ! अमीचन्द की बुद्धि कितनी अधिक संयमित है ! कितनी संस्कारित ! ऐसे पुरुष के जीवन में आपदा जैसी वस्तु कैसे लग सकती है ?'

राजा उतावल करते हैं :

राजा और रानी वैसे भी वैरागी थे। फिर अमीचन्द के तत्त्वपूर्ण बोल सुने और उन्हें अमीचन्द की महान् योग्यता भी जानने मिली। इसलिए अब तो उनमें, अपना राज्य अमीचन्द को सौंपकर, संयम-पथ पर चल पड़ने की उत्कण्ठा बहुत बढ़ गई।

राजा अमीचन्द से कहते हैं: 'अब देखो सेठ ! मैं ज्योतिषी को बुला रहा हूँ और तुम्हारे राज्याभिषेक का मुहूर्त निकलवाता हूँ। इसलिए अब जरा-सी भी आना-कानी मत करना।'

अमीचन्द कहते हैं: 'महाराज ! जरा रुको, हमारे इस विनयचन्द्र को थोड़ा स्वस्थ होने दो।'

राजा विनयचन्द्र से पूछते हैं: 'क्यों भाई ! अब भी तुम अशान्त हो ? इस भाई की कल्याणकारी शिक्षा मन को नहीं छू पाई ?'

विनयचन्द्र के द्वारा कर्तव्य का निश्चय :

विनयचन्द्र कहते हैं: 'महाराज ! इस हितशिक्षा के हृदय को छूने के बारे में पूछ रहे हैं ? उसने तो मेरे हृदय को वेध दिया है। मेरे बड़े भाई इतनी ऊँची विचार-धारा को धारण किए हुए हैं, इसका पता मुझे अब चल रहा है। वास्तव में, मेरे जैसा अभागा कौन होगा जो ऐसे देव - पुरुष भाई से द्रोह करेगा ? अस्तु ! अब तक मैं बहुत पथ - भटका था, मगर अब तो भाई ने इस सत्पुरुषार्थ को करने की महान् कुंजी बतला दी है। उसका प्रबल उपयोग करके, मैं अपने अन्तर के खज़ाने का द्वार खोल दूँगा। अब मैं यह रोना-पीटना बंद कर दूँगा।'

इतना कहकर वह भाई के चरणों में सिर झुकाकर कहता है: 'भाई ! आपके स्थान पर यदि कोई दूसरा होता, तो मेरा क्या हुआ होता ? मेरा अहोभाग्य कि धर्म के अवतार जैसा महान् पुरुष मुझे भाई के रूप में मिला है ! बस, अब मेरे करने योग्य सत्पुरुषार्थ के कर्तव्य मुझे बतलाते रहना, मैं उन्हें स्वीकारने को तैयार हूँ।'

राजा अमीचन्द से कहते हैं: 'लो सेठ ! अब जल्दी से 'हाँ' कहो तो मैं ज्योतिषी को बुलाऊँ ।'

अमीचन्द कहते हैं: 'मुझे सोचने के लिए आज का समय दें । कल जवाब दूँगा ।'

राजा बनना या नहीं :

राजा ने बात मान ली । अमीचन्द सहकुटुम्ब घर लौट आए । अन्य कार्यों को निबटाकर अमीचन्द जिनमति से पूछते हैं: 'बताओ, अब महाराज को क्या उत्तर देना है ? जीवन में बहुत सह चुके, अब आपके सामने महारानी बनने का अवसर आ खड़ा हुआ है । कहो तो स्वीकार लें ?'

जिनमति की तत्त्व - बुद्धि, राज्य से नरक :

जिनमति कहती हैं: 'क्या आप यह मेरी परीक्षा लेने के लिए पूछ रहे हैं ?'

'परीक्षा कैसी ? यह तो सुविधाजनक स्थान पर बैठकर महान् सुकृत करने का अवसर मिल रहा है, इसलिए मैंने पूछा ।'

जिनमति कहती हैं: 'क्या पागल हुए हो ? सुकृत तो बाद में, मगर इस उच्च स्थान के पालन के पीछे आरम्भ, समारम्भ और परिग्रह के पाप तथा राग-द्वेष का भार कितना बढ़ जाएगा ? यह तो कहो, राज्यश्री नरकश्री क्या ऐसे ही कहते हैं ? राज्यलीला देखते - देखते उड़ जाएगी और यहाँ से उठकर चलते बनेंगे । फिर जीव के साथ उसके पापों और राग - द्वेष का भार सिर पर लदा रहेगा ! इसके पीछे भव की परम्पराएँ भी कितनी बढ़ जाएँगी ? सुकृतों के लाभ की अपेक्षा, पहले पाप का भय देखना आवश्यक है । इसलिए, यदि मेरी इच्छा पूछो, तो मुझे ऐसी सत्ता - सम्पत्ति का कोई उमंग नहीं है । उल्टे मुझे तो उन महाराजा - रानी के दृष्टांत से इस संसार से कोई मोह नहीं रह गया है । इसलिए मुझे भी उनके साथ चारित्र मार्ग अपनाना है ।'

दोनों की चारित्र की भावना :

अमीचन्द कहते हैं: 'धन्य दृष्टि ! धन्य हृदय ! बहुत अच्छी बात आपने कही है ! मेरा भी यही विचार है। राज्य भोगने की मुझे भी कोई कामना नहीं है, अतः अब हमें संसार छोड़ने की तैयारी करनी चाहिए।'

फिर, विनयचन्द्र को बुलाकर कहते हैं: 'देखो भाई। अब हमने इस विचित्र संसार को त्यागकर चारित्र लेने का विचार किया है। इसलिए अब तू इस सब को सँभाल ले।'

वह बोलता है: 'अरे बड़े भैया ! यह क्या कह रहे हैं ? अभी तो आपकी सीख की मुझे ज़रूरत है, फिर यह महाराजा राज्य सौंपना चाहते हैं, उसे भी आप ही को सँभालना है। और आप राजा बनेंगे तो प्रजा का कितना अधिक कल्याण होगा और आप धर्म की प्रभावना कर पायेंगे। वहीं अब आप चारित्र की बात करने लगे ?'

राज्य - सम्पत्ति के दोष :

अमीचन्द कहते हैं: 'वीनु ! ये सब तुम्हारी स्थूल गिनती है। अपनी आयु का भरोसा नहीं है। आरोग्य और मन की स्वस्थता का भी क्या ठिकाना कि वे बने रहेंगे ? फिर, राज्यसत्ता में महा आरम्भ, परिग्रह, राग, द्वेषादि कषायों का पाप भी कितना भारी होता है। फिर लोगों को धर्म प्राप्त करा ही देंगे, इसे भी कैसे विश्वासपूर्वक कह सकते हैं ?'

चारित्र के लाभ :

चारित्र जीवन में इन भयंकर पापों से बचा जा सकता है। अनन्त जीवों को अभयदान देने का लाभ मिलता है, एवं योग्य जीवों को धर्म को पाने का ठोस निमित्त बना जा सकता है। इस अपार संसार में भटकाने वाले राग-द्वेष एवं अहंत्व को उखाड़ने की प्रक्रिया, जो साधु जीवन में हो सकती है, वह और कहाँ हो सकती है ? राज्याधिपति बनने के बाद, अहंत्व को सिर पर बिठाने जैसा होगा।

अहंत्व में पाप-समूह : अहंत्व भयंकर पाप :

देखो वीनु ! यहाँ कुछ ठीक परिस्थिति में नौकर - चाकर, छोटे कुटुम्बी, गरीब, सामान्य आदि पर हमें कितना अहम्, अभिमान होता है ? दूसरों पर उपकार भी करते होंगे, परन्तु वहाँ यदि सामनेवाले के किसी ऐसे बर्ताव या वचन से अपना अहंकार टकराता दिखता है, तो झट से अपने मन को चोट पहुँच जाती है । उस समय उपकार के सुकृत का महालाभ गिनती में नहीं आता एवं अपने अहंत्व को बनाए रखने के लिए शायद उपकार करना भी टाल देते हैं ! अथवा पूर्वकृत उपकार को आन्तरिक उद्वेग से धो डालते हैं !

क्या माँ-बाप पुत्र पर उपकार नहीं करते हैं ? मगर बाद में, लड़का बड़ा होकर माँ-बाप को नगण्य समझता है तो झट से माँ - बाप के दिल में आता है कि, 'हमारे साथ ऐसा व्यवहार ?' क्या है यह ? अहंत्व की जगमगाहट । फिर, मन को होता है कि 'हाय ! कहाँ हम इसके पीछे टूट मरे थे ?' क्या है यह ? किए गए सुकृतों, उपकारों का पश्चात्ताप ।

उपकार का पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए :

उसे कौन समझाए कि 'अरे, महानुभाव ! इतना तो सोच कि यदि तूने निःस्वार्थ भाव से उपकार किया था, वह तो पुण्य के बही - खाते में सील पैक होकर जमा हो गया है । अब लड़का भले ही नालायक निकले, तो भी वह तुम्हारे पुण्य को नहीं बिगाड़ सकता है । तो तुम स्वयं क्यों नादान बनकर, उपकार का पश्चात्ताप करके, अपने ही हाथों, अपने पुण्य को भस्म कर रहे हो ?'

यह बात उसके ध्यान में नहीं आती है । यदि उस ओर कोई उसका ध्यान खींचे तब भी वह समझने को तैयार नहीं है । किस कारण से ? यही कि, उसका अहं बीच में आ रहा है ।

तब तो छोटे से उपकार को भी अहंत्व भारी धक्का लगाता है । जैसे, सेवा का कोई कार्य करने गए, वहाँ किसी ने कोई कड़वी

बात कह दी अथवा हमारी कद्र न करके किसी और की प्रशंसा कर दी, तो झट से मन नाराज़ हो जाता है। मन को लगता है कि 'हम ऐसी सेवा करने के लिए कहाँ फालतू बैठे हैं ? चलो घर, कोई सेवा नहीं करनी है, ये लोग तो दुःख पाने के लायक हैं। देखा, निर्दयता तक पहुँच गये।

सोचना वीनु ! एक अहंत्व हमें कहाँ से कहाँ तक पहुँचा देता है ? सेवा छोड़ी तो छोड़ी, मगर ऊपर से सामनेवाले पीड़ित हो, दुखी हो, इसमें सन्तोष माना ! कितनी अधम दशा ? यह पाप अहंत्व का है। अहंत्व तो अपार अपकृत्य कराता है, सीमाहीन क्रूरता और माया भी करवाता है।

अनेक पापों के मूल में अहंत्व :

यदि ध्यानपूर्वक देखें तो ज्ञात होगा कि अहंत्व - 'मैं' पद के कारण ही अनेकों पाप होते हैं।

(1) लक्ष्मी अधिक कमाने एवं व्यापार जारी रखने के लिए अहंत्व प्रेरणा देता है। वह सिखाता है कि 'व्यापार को बन्द करके कंगाल की तरह बैठे रहे तो तुम्हारी क़ीमत क्या होगी ?

(2) जब पैसों का लोभ होता है, तो उसके पीछे यह विचार होता है: 'यदि मेरे पास बहुत पैसे हुए तो मैं संसार में श्रीमन्त माना जाऊँगा; दूसरों पर मेरा प्रभाव पड़ेगा... आदि - आदि। ये सब अहंत्व के ही चोंचलें हैं।

(3) फिर, शेष बातों - कपड़े, गहने, गाड़ी आदि का ठाठ 'मैं' को पोषने के लिए होता है।

(4) जीव 'मैं' पद का मारा, सेठ के रूप में, बुज़ुर्ग के रूप में, अध्यक्ष, मंत्री, नेता के रूप में रोफ जमाता है, हलचल मचाता है।

(5) इस प्रकार से, अहंत्व के कारण वह चार लोगों के बीच चाहे जैसी बातें करता है और डींगें हाँकता है।

(6) और आगे बढ़कर देखें तो दिखेगा कि एक अहंकार के ही कारण वह छोटे-बड़े झगड़े करता फिरता है, झगड़े में ज़रूरत पड़ने पर हज़ारों रुपए बहा देता है ।

(7) कई कुलक्षण, अपकृत्य, अपशब्द एवं गंदे विचार अहंत्व के कारण ही पैदा होते हैं ।

क्या बालक और क्या बूढ़े, क्या बुद्धिमान और क्या बुद्धिहीन, क्या निर्धन और क्या धनपति - सभी किसी न किसी अहंत्व से पीड़ित हैं । उसमें तनिक-सा भी मान - रुतवा बढ़ा कि अहंत्व बढ़ जाता है ।

'अब वीनु, सोचो ! राजा होने पर कितने बड़े अहंत्व - अहंकार - को जगह मिलेगी ? सुकृत तो जब होंगे, तब होंगे, परन्तु इस अहंत्व का घोर पाप, साथ ही भरपूर राग-द्वेष तथा बड़े-बड़े आरम्भ परिग्रह - विषय, ये सभी चौबीसों घंटे साथ रहेंगे ! इनसे आत्मा का कितना अधिक अहित होगा ? शास्त्र ऐसा नहीं कहते हैं कि स्वयं का अहित करके सुकृत - परोपकार करने निकलो । 'स्व' का अपकार करके, पर का उपकार जिन शासन में नहीं बताया गया है ।'

इसलिए वीनु ! राज्य का लोभ ग़लत है । अब तो यह सब तुम्हें सौंप दिया है । हम तो चारित्र मार्ग पर ही जाकर अपना शेष जीवन पूरा करेंगे ।'

विनयचन्द्र का प्रश्न :

विनयचन्द्र के हृदय पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा । भाई की तत्त्वपूर्ण वाणी ने उसे जगा दिया ! वह बोला:

'भाई साहब ! यह तो आप अद्भुत बात कर रहे हैं ! आपके बतलाए अहंत्व के कुकृत्य तो मैंने अनेकों बार जीवन में किए हैं । आप से अलग होने के बाद भी मैंने आपके प्रति घोर पाप किए हैं ! अब मेरी समझ में आ रहा है कि मैंने अहंत्ववश होकर ही वे सब किए थे । ऐसे पाप करनेवाला और बरसों तक हमेशा अहंकार में रहा हुआ मेरा क्या होगा ? इससे तो कितने ही जन्मों तक मुझे इस भव सागर में

भटकना पड़ेगा । आपने तो आज तक पवित्र, उत्तम जीवन जीया है, फिर भी पाप से डरकर संसार छोड़ने की तैयारी कर रहे हैं ! तो मुझे इस संसार में रहकर पापों के ढेर को और कितना बढ़ाना पडेगा ?'

अमीचन्द कहते हैं: 'जरूरत क्या है पाप करने की ? पवित्र जीवन जीना ।'

विनयचन्द्र की चारित्र भावना क्यों ? :

बड़े भैया ! हमारी यह योग्यता ही कहाँ है कि पाप के निमित्तों को तो पास में रखकर बैठें, मगर पाप नहीं करें ! थोड़े - से निमित्त में भी अहंत्ववश पापाचरण करने में कुछ बाकी नहीं रखा, तो अब इतना बड़ा लक्ष्मी का ढेर और अन्य सुविधाएँ, हमें कहाँ ले जाकर पटकेंगी ? अब तो बचने का एक ही रास्ता दिखता है । और वह भी आपके द्वारा बतलाई गई अहंत्व की राक्षसी लीला समझाने के बाद से, स्पष्ट रूप से भासित हो रहा है कि इस 'मैं' पद एवं अन्य पापों का पोषण करनेवाले निमित्तों से ही दूर रहूँ, तभी पापों से बचा जा सकेगा । मुझे तो अब सारा संसार ही पाप का निमित्त दिख रहा है, इसलिए अब मुझे भी संसार छोड़ना ही है ।'

अमीचन्द कहते हैं: 'वीनु ! यह तुम क्या कह रहे हो ? तुम्हें अभी त्याग का और सहन करने का इतना अधिक अभ्यास कहाँ हुआ है ? चारित्र जीवन में तो, तुम जानते ही हो कि कितना अधिक त्याग करना पड़ता है और कितना सहना पड़ता है ?'

'भाई ! जानता हूँ । मगर मैं इससे डरता नहीं हूँ । बल्कि, उसे करने की अब मुझ में उमंग जागी है ।'

चारित्र का उत्साह क्यों :

'हाँ, कारण है, - आपने जो आरम्भ - समारम्भ - परिग्रह - विषयों और अहंत्व के घोर अनर्थ बतलाए हैं, उन पर से मुझे तो अब यही लगने लगा है कि पापों का मैंने हिसाब नहीं रखा है, अब उसी की सजा के रूप में मुझे भगीरथ त्याग एवं सहन करना ही चाहिए । मेरा

जो मन पापिष्ठ बन गया था उसे अब भीष्म त्याग एवं सहिष्णुता से ही अच्छा करूँगा ।'

'परन्तु, वीनु ! यह तो सोचो कि त्याग का मार्ग अपनाना फिर भी सुगम है, मगर बाद में उसे अच्छी तरह से निभाना बहुत दुर्गम है, क्योंकि चित्त चंचल है !'

'आपकी बात सच है, परन्तु यहाँ तो मैं इस बात को पहले से ही समझकर निर्णय ले रहा हूँ न ? आज तक किए अधम से भी अधम दुष्कर्मों और दुर्भावनाओं से आत्मा पर चढ़े पापों के ढेर को उतारने के लिए 'खूब सहन करना' ही एकमात्र मार्ग है । कर्मों को सहने की बजाय चारित्र लेकर सहन करना योग्य है ।'

प्रश्न : चारित्र लेने के बाद,सतत पीछे हटने का मन होता रहे तो ?
उत्तर : रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने के बाद, उसे कड़ी से कड़ी दवाइयाँ उपचार में देने से, यदि रोग का शमन होता है तो घबराहट या पीछे हटने की इच्छा नहीं होती है । इसी प्रकार मैं भी संयम-जीवन के जीवन की कठिनाइयों से पीछे हटनेवाला नहीं हूँ । क्योंकि मुझे भाव-आरोग्य का अनुभव तो प्रत्यक्ष में वहाँ हो ही जाएगा । और अब जहाँ अहंत्व को ही मारना है, वहाँ फिर, कोई भी प्रतिकूलता विचलित कर नहीं पाएगी । आज आपने मुझे जो अहंत्व का विकराल स्वरूप समझाया है, उससे तो मुझे निश्चित रूप से दिख रहा है कि जीव प्रतिकूलताओं से भागता फिरता है, उसमें भी उसका अहंत्व ही काम करता होता है ।

'मुझ से यह सहन नहीं होनेवाला है; हमें तो 'ऐसी-ऐसी सुविधाएँ चाहिए' ऐसा विचार कौन करवाता है ? अहंत्व ही न ? जीव को यदि यह बात समझ में आ जाए कि 'अरे ओ ! तू कौन है यह बोलनेवाला ? नरक निगोद में तेरा क्या मूल्य था ? वहाँ क्या कोई सुविधाएँ थीं ? असंख्य अनन्त काल तक यही भोगने वाले, तुझे अभिमान करने का अधिकार ही कहाँ है ?'

पुण्य है इसलिए अहंत्व है :

'बस, अब मेरी नज़रों के सामने यह सब तैर रहा है । उस अधम अहंत्व को तोड़ने के लिए, कठिन-से-कठिन कष्ट सहने के अलावा, और कोई उपाय नहीं है । और भाई, सभी सुविधाओं आदि की गिनती भी, मृत्यू नहीं आई और पुण्याई है, इसीलिए सूझ रही हैं न ? तब क्या पुण्याई का यह अर्थ होता है कि उसकी लीला के कारण अहंत्व और सुविधाओं के पाप करने चाहिए ?

पुण्य कम होने पर, अहंत्व कहाँ टिक पायेगा ? उसे ऐसी सामग्री न मिलने पर पाप कहाँ से होंगे ? कर्म रूठे और अहंत्व तथा सुविधाएँ चली जायें, इनके स्थान पर, स्वयं ही समझ-बूझकर उन्हें क्यों न छोडे दे ?

पुण्य के उदय में पाप एवं अहंत्व को पुष्ट करना, मुझे तो अब मूर्खता लगती है ।

इसी में बुद्धिमानी दिखती है कि पुण्य के उदय के समय पुण्य को बढ़ा दें, पाप छोड़ दें ।

इसलिए आप मेरी तनिक-सी भी चिन्ता न करें । मैं संसार त्यागने में आपके साथ हूँ । आपके तो जन्म से ही मुझ पर बड़े-बड़े उपकार हैं, मगर यें उपकारों ने तो हद ही कर दी है ! भाई मेरे ! आपका ऋण मैं कैसे चुका पाऊँगा ?'

ऐसा कहते हुए विनयचन्द्र गद्‌गद् हो गया, भाई के चरणों में गिर गया, आँखों में से वह झरझर आँसू गिरा रहा था !

उसकी पत्नी तारा भी पास बैठी यह सब सुन रही थी । उसे लग रहा था कि वह स्वयं बहुत बड़ी पापिन है, इसलिए उस पर अधिक असर पड़ता है, अतः उसकी आँखों में से भी अश्रू धारा बहने लगती है, रोते-रोते कहती है: 'भाई जी ! मेरा क्या होगा ? घोर पापिष्ठा तो मैं हूँ, इसलिए मेरा तो विशेष उद्धार करो । मैं भी आपके साथ ही चारित्र लूँगी ।'

जिनमति तो वैसे भी बहुत कोमल हृदय की थी, इस पर उन

दोनों के रोने से, स्वयं भी भावुक बन गई । उसकी आँखों में भी आँसू भर आए, रोती-रोती बोली:

'अहो ! कितना धन्य है, यह आज का दिन ! कहाँ पहले की कर्म विडम्बनाएँ ! और कहाँ यह देव-गुरु कृपा का ठाठ ! वाह, सासुजी को दिये वचन का सचमुच पालन हो गया !

अमीचन्द सान्त्वना देता है, कहता है: 'चलो, अब रोने का काम नहीं है । यदि तुम लोगों ने सोच-समझकर निर्णय लिया है, तो सब चारित्र की ही तैयारी करें ।'

यह प्रताप अमीचन्द की सैकड़ों अमृतमयी दृष्टि का है । उसने भाई-भाभी के विष को गला दिया ! इतना ही नहीं, राजा-रानी की भी दृष्टि ऊँची अमृतमयी कर दी ! दूसरे दिन अमीचन्द ने राजा के पास जाकर ये सारी बातें विस्तार से कहीं । राजा भी स्वयं चारित्र का अभिलाषी बना था, फिर अमीचन्द को चारित्र से रोकने का पाप क्यों करता ? उसने भी बात स्वीकार ली । राजगद्दी पर योग्य उत्तराधिकारी को बिठा दिया । नगर में आठ दिन जिनेन्द्र भक्ति उत्सव मनाया गया । अमीचन्द ने भी सम्पत्ति में से अनेकों परमार्थ एवं प्रभुभक्ति की; शेष विनयचन्द्र के पुत्र को सौंप दी । वे चार और राजा-रानी तथा अन्य अनेकों ने चारित्र मार्ग स्वीकारा एवं आत्म-कल्याण का भव्य पुरुषार्थ अपनाया ।

कथा समाप्त होती है । इसके विविध प्रसंग बहुत-कुछ सिखा जाते हैं । अनेक प्रकार की अमृतमयी दृष्टियाँ यदि जीवन में अपनायी जायें,तो वे स्वयं को तो निहाल करती ही हैं, परन्तु दूसरों का भी उद्धार करती हैं । मानव जीवन की यह मूल्यवान कमाई करके, भगवान् जिनेश्वर देव के शासन की उत्तम आराधना करते रहें, यही एक मंगल कामना है । जिनवचन के विरुद्ध कुछ कहा गया हो तो मिच्छामि दुक्कडम् !

भुवनभानु एन्साइक्लोपीडिया भाग – १ से ७६

भाग – १ से १०	अग्रलेखामृत
भाग – ११	अग्रलेखामृत + दिव्यदर्शन + गणधरवाद
भाग – १२	साधर्मिक भक्ति + जीवनना आदर्श + अनंतना प्रवासे
भाग – १३/१४	श्री योगदृष्टि समुच्चय
भाग – १५	श्री योगदृष्टि समुच्चय + निश्चय अने व्यवहार
भाग – १६	अनाथी मुनि + मदनरेखा + कल्याणमित्र + नमिराजर्षि
भाग – १७	संसारनी जड़ + जीवनमां दिशानुं परिमाण + संसारना त्रिविध ताप
भाग – १८	गृहस्थ धर्म केम दीपे ? + दर्शननी षड्विध कला + अरिहंतनी ओळ–खाण + जैन शासनमां भागवती दीक्षानुं स्थान + संस्कृतिना संरक्षण
भाग – १९	ध्यान अने जीवन
भाग – २०	ध्यान अने जीवन + चिंताना प्रकारो
भाग – २१ से २५	समरादित्य कथा
भाग – २६	समरादित्य कथा + अमीचंदनी अमीदृष्टि + महासती देवसिका + रूपेसन अने सुनंदा
भाग – २७	पर्युषण पर्वना प्रवचनो
भाग – २८/२९	आत्मानो विकास अने महासती सीताजी
भाग – ३०	ललित विस्तरा + सती दमयंती
भाग – ३१	श्री शांतिनाथ भव – १ से ४
भाग – ३२	श्री शांतिनाथ भव – १ से ६
भाग – ३३	श्री शांतिनाथ भव – ६ से ८
भाग – ३४	श्री शांतिनाथ भव – ८ से १०
भाग – ३५	श्री शांतिनाथ भव – ८ से १० + प्रारब्ध पर पुरुषार्थनो विजय + उब्बुड्डो मा पुणो निबुड्डिज्जा
भाग – ३६	शांतसुधारस अने ऋषिदत्ता–१
भाग – ३७	शांतसुधारस अने ऋषिदत्ता–२
भाग – ३८	वीसस्थानक – अरिहंतपद – देवपालनी साधना + तामसभावना तांडव
भाग – ३९	वीसस्थानक – सिद्धपद – हस्तिपालनी साधना + रागद्वेष करावे क्लेश
भाग – ४०	रागद्वेष करावे क्लेश + नरसिंहनी कथा + दानधर्म
भाग – ४१/४२	श्री कुवलयमाळा – चरित्र व्याख्यान १–२
भाग – ४३	श्री कुवलयमाळा – चरित्र व्याख्यान ३ + कषाय रोको : छुटवानो मोको
भाग – ४४	कषाय रोको : छुटवानो मोको
भाग – ४५	श्री पंचसूत्र भाग–१

भाग – ४६	श्री पंचसूत्र भाग–२ + भवाभिनंदी जीवना ८ दुर्गुण + जीवनसंग्राम
भाग – ४७	संदेशो प्रभुवीरनो + कामलतानी करुण कहानी
भाग – ४८	सुलसाचरित्र + भोगोपभोग परिमाणव्रत
भाग – ४९	तरंगवती–१
भाग – ५०	तरंगवती–२ + असंखयं जीवियं मा पमायए
भाग – ५१/५२	रुक्मिराजानुं पतन अने उत्थान–१/२
भाग – ५३	राजपुत्र आर्द्रकुमार
भाग – ५४	आनंदघनजी कृत स्तवन रहस्यार्थ १ से ५
भाग – ५५	आनंदघनजी कृत स्तवन रहस्यार्थ ६ + उपा. यशोविजय कृत चोविशी रहस्यार्थ १ से ७
भाग – ५६	उपा. यशोविजय कृत चोविशी रहस्यार्थ ८ से १५
भाग – ५७	परमतेज सारोद्धार
भाग – ५८	अरिहंत–सिद्ध–आचार्यपद पूजा
भाग – ५९	उपाध्याय + साधुपद पूजा + मार्गानुसारी जीवन + षोडशक + गणधरवाद (२ से ११)
भाग – ६०	ध्यानशतक + श्री तत्त्वार्थ उषा + नमस्कार ग्रंथनो उपोद्घात
भाग – ६१	उच्च प्रकाशना पंथे
भाग – ६२	श्री भगवतीसूत्र विवेचन भाग–१ + उपदेशमाला
भाग – ६३	धर्म केम अने केवो आराध्य? + प्रकरण दोहन + पळमां पापने पेले पार + प्रकीर्ण प्रसाद
भाग – ६४	श्रद्धांजली–१
भाग – ६५	श्रद्धांजली–२
भाग – ६६	समाचार–१
भाग – ६७	समाचार–२
भाग – ६८	समाचार–३
भाग – ६९	समाचार–४
भाग – ७०	समाचार–५
भाग – ७१	शासन प्रभावना–१
भाग – ७२	शासन प्रभावना–२
भाग – ७३	शासन प्रभावना–३
भाग – ७४	शिबिर–१
भाग – ७५	शिबिर–२
भाग – ७६	प्रकीर्ण प्रसाद